शान्ति-सोपान

अर्थात्

परमानन्दस्तोत्र, स्वरूपसम्बोधन, सामायिक-पाठ,
मृत्यु-महोत्सव, समाधि-शतक और
महावीराष्टक

संग्रहकर्ता एवं अनुवादक
ब्र० ज्ञानानन्दजी न्यायतीर्थ

प्रकाशक
प्रकाशचन्द शीलचन्द जैन जौहरी
चाँदनी चौक, दिल्ली-११०००६

मूल्य . सदुपयोग एव स्वाध्याय
तृतीय सस्करण, १६७४

प्रकाशक प्रकाशचन्द शीलचन्द जैन जौहरी
चांदनी चौक, दिल्ली-११०००६

मुद्रक भारती प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

निवेदन

ब्र० ज्ञानानन्द जी न्यायतीर्थ ने प्रस्तुत पुस्तक को भारी परिश्रम के पश्चात् संकलन करके अनूदित किया है। प्रत्येक श्लोक का हिन्दी में अर्थ दिया गया है। भाषा बहुत सरल रखी है ताकि जन साधारण भी इसका पूरा लाभ उठा सकें।

पुस्तक के दो संस्करण पूर्व में समाप्त हो गए हैं। भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर इसे तीसरा संस्करण प्रकाशित करते हर्ष हो रहा है। आशा है पाठकवृन्द पुस्तक का पूरा लाभ उठायेंगे तभी हम अपना प्रयास सफल मानेंगे।

— प्रकाशचन्द शीलचन्द जैन

पूज्य क्षुल्लक श्री १०५ गणेशप्रसाद जी वर्णी
को सादर समर्पित

क्रम

पूज्य मुनिप्रवर श्री १०८ विद्यानन्द जी महाराज

शुभाशीर्वाद

सपूजकाना प्रतिपालकाना यतीन्द्रसामान्य तपोधनानाम्।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः करोतु शान्ति भगवज्जिनेन्द्र ॥

—शान्ति पाठ, पूजा

'शान्ति-सोपान' स्वय मे कोई स्वतत्र ग्रन्थ (परिग्रह भी) नही। ये भव्य जीवो का अपना स्वय का आत्मभाव है जिसे परमानन्दस्तोत्र, स्वरूप-सबोधन, सामायिकपाठ, मृत्युमहोत्सव और समाधिशतक-जैसे उपयोगी प्रकरणो द्वारा सँजोया गया है। जहाँ जीवन के मध्य परमानद की उपलब्धि के लिए 'स्वरूप सबोधन' और 'सामयिक पाठ'-जैसे प्रसग उपयोगी हैं, वहाँ जीवन के अन्तिम क्षणो मे 'मृत्यु महोत्सव' और 'समाधि शतक' भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। कहते भी हैं—'अन्तगता सो गता'। फिर, जैन वाङ्मय मे तो मृत्यु को महोत्सव कहा गया है, यहाँ सल्लेखना का स्वागत किया गया है—'मरण समाधि भला है'।

तीर्थंकरो एव परम्पराचार्य गुरुओ ने मोक्ष को सर्वथा उपादेय उद्घोषित किया है। जब तक मोक्ष-प्राप्ति नही होती तब तक जीवो को शुभ-परिणति मे अग्रसर होना चाहिए—

'तव पादौ मम हृदये मम हृदय तव पद-द्वयेलीनम्।
तिष्ठतु जिनेन्द्र तावत् यावन्निर्वाणसम्प्राप्ति'॥

उक्त परम्परा मे चलते रहने के लिए 'शान्ति-सोपान' का अध्ययन,

मनन, चिन्तन परम उपयोगी है। इसका सर्वाधिक उपयोग होना चाहिए।

लाला प्रकाशचन्द शीलचन्द जैन जौहरी दिल्ली के प्रतिष्ठित, धार्मिक श्रावक हैं। हमारे दिल्ली के चतुर्मासो मे हमने उन्हें धर्म-प्रभावना के प्रति जागरुक सज्जनो मे पाया। लालाजी 'शान्ति-सोपान'-जैसी पवित्र और उभय जन्मोपयोगी सामग्री को तृतीय बार जनता के समक्ष ला रहे हैं, वे इसकी दो आवृत्तियाँ पहले प्रकाशित करा चुके हैं। इस पवित्र कार्य के लिए हमारे अनेक शुभाशीर्वाद।

—मुनि विद्यानन्द

प्रस्तुत रचना के सम्बन्ध में

प्रस्तुत कृति मे परमानन्दस्तोत्र, स्वरूपसम्बोधन, सामायिकपाठ, मृत्युमहोत्सव और समाधिशतक इन पाँच सुन्दर आध्यात्मिक रचनाओ का उनके सरल अनुवाद के साथ सकलन किया गया है। इनके सकलयिता और अनुवादक स्वनामधन्य स्वर्गीय ब्रह्मचारी ज्ञानानन्दजी हैं, जिनका पूर्व नाम प० उमरावसिह जी न्यायतीर्थ था यहाँ उनका कुछ पारिवारिक परिचय भी दे देना अनुचित न होगा।

उत्तरप्रदेश के जिला मेरठ मे 'सलावा नाम का एक अच्छा कस्बा है। यहाँ जैन समाज के ४६ घर हैं जो प्राय सभी सम्पन्न एव धार्मिक हैं। बाबा लालमनदास जी, बाबा भागीरथ जी वर्णी और ब्र० किशनचन्दजी आदि प्रसिद्ध त्यागियो के सहवास से यहाँ के समाज मे अच्छी जागृति एव धार्मिक रुचि रही है। ला० फकीरचन्द जी यहाँ के प्रमुख एव धर्मनिष्ठ सज्जन थे। उनके प० देवीसहाय जी और ला० मित्रसेन जी ये दो पुत्र थे। ये दोनो ही अपने सुयोग्य पिता के अनुरूप धार्मिक और सत्पुरुष थे। प० उमरावसिह जी प० देवीसहाय जी के सुयोग्य बडे पुत्र थे और उनके छोटे भाई दीपचन्द जी थे। ला० दीपचन्द जी की विधवा पत्नी अभी भी मौजूद हैं और बडी धर्मात्मा तथा धर्मध्यान मे निरत रहने वाली एक महिला-रत्न हैं।

ओर से ही प्रकट हो रहा है। इसके लिए पूज्य वर्णी जी, ब्र० हुकुमचन्द जी और प्रकाशक जी तीनो ही महानुभाव समाज के विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

आशा है पाठको को ब्रह्मचारी जी की इस सुन्दर आध्यात्मिक रचना के पठन-पाठन से वोध एव शान्ति-लाभ होगा।

श्री समन्तभद्र सस्कृत-विद्यालय
दरियागज, दिल्ली

—दरवारीलाल जैन कोठिया
(न्यायाचार्य)

ब्रह्मचारी ज्ञानानन्द जी न्यायतीर्थ
सकलयिता एव अनुवादक

जयति जगति जिनशासनम्

भूमिका

साहित्य-सेवी, शिक्षित समुदाय इस बात को भली-भाँति जानता है कि ससार के समस्त रसो मे शान्त-रस सबसे ऊँचे दर्जे का है। क्रोधादि कषायो के प्रचण्ड सन्ताप से जब किसी की आत्मा तप्त हो जाया करती है तब बडी-बडी नदियो की निर्मल धारायें, शीतल चन्दन, चन्द्रमा, खस, केवडे और मलयगिरि की प्रात कालीन शिशिर सुगन्धित निर्मल अनिल आदिक सब मिल कर भी उस सन्ताप को दूर करने मे समर्थ नही होते। उस सन्ताप को नष्ट करने की शक्ति यदि किसी मे होती है, तो वह केवल ससार के स्वभाव को जानने वाले सरल चित्त सज्जनो के सुधा-स्रावी उपदेश मे होती है। इसी एक रामबाण औषधि के सेवन से यह क्रोधादि कषाय का भयकर हार्दिक रोग शान्त हो सकता है। प्रबल-से-प्रबल प्रतापी योद्धा बडी-बडी तोप, तलवार और मशीनगनो का भय दिखाकर भी जिस मस्तक को रचमात्र नीचा नही कर सकते, उसी उन्नत मस्तक को महर्षि पुरुष, प्रशम पीयूष-पोषक एक-दो वाक्य सुनाकर चरणो मे झुका लिया करते है। इस प्रकार ससार-भर को वश मे करने मे समर्थ और बिना प्रयत्न हमेशा पास में रहने वाले शान्तिमय शस्त्र की महिमा मे और अधिक कुछ न लिखकर प्रकृत पुस्तक शान्ति-सोपान के विषय मे हम यह सूचित कर देना आवश्यक समझते हैं कि इस पुस्तक मे जिन परमानन्दस्तोत्र, अकलकदेव विरचित स्वरूपसम्बोधन, मृत्युमहोत्सव और श्रीपूज्यपाद स्वामी रचित समाधिशतक

नामक ग्रन्थों का सरल अनुवाद प्रकाशित किया जा रहा है, वे चारों ही ग्रंथ शान्त-रस की पुष्टि करने में एक-से-एक उत्तम हैं। अन्त में 'वैराग्य-भावना' के पद भी समाविष्ट कर दिए गए हैं।

१ परमानन्दस्तोत्र

प्रथम ग्रन्थ परमानन्द-स्तोत्र में यद्यपि केवल चौबीस ही श्लोक हैं। किन्तु ये थोडे-से ही पद्य जब सब तरफ से चित्त-वृत्ति को हटाकर मनन किये जाते हैं तब आत्मा में विचित्र आनन्द उत्पन्न कर देते हैं। इस स्तोत्र के रचयिता का नाम यद्यपि हमें मालूम नहीं हो सका, किन्तु इस बात को प्रकट किये बिना हम से नहीं रहा जाता कि जिन महानुभाव के द्वारा इस स्तोत्र की रचना हुई है उन्होंने केवल अपनी कृति से ही परमात्मपद की झलक दिखाने का कार्य कर दिया है।

२. स्वरूपसम्बोधन

दूसरा स्वरूप-सम्बोधन ग्रन्थ दि० जैन न्यायशास्त्रों के प्रसिद्ध कर्त्ता श्री अकलंक भट्टाचार्य का बनाया हुआ है। जिन प्रखर आचार्य ने न्याय-विनिश्चयालंकार[1] सरीखा अद्भुत ग्रन्थ २०,००० हजार श्लोकों में लिख-कर समाप्त किया है और अष्टशती व राजवार्त्तिक सरीखे अनेक महत्वपूर्ण विशाल ग्रन्थ रचकर अपनी अलौकिक विद्वत्ता का परिचय दिया है उन्हीं आचार्य महाराज ने इस छोटे-से युक्तिपूर्ण ग्रंथ को केवल २५ श्लोकों में रचकर यथेष्ट भोजन कराने के बाद उत्तम पान का बीडा खिलाने सरीखा काम किया है। ग्रंथकर्त्ता महानुभाव ने इस छोटे-से अध्यात्म-ग्रन्थ में भी न्यायविषयक लेखनशैली की अद्भुत छटा दिखाये बिना नहीं छोडी।

---

१ अकलंकदेव ने 'न्यायविनिश्चय' बनाया है और उसकी टीका 'न्यायविनिश्चया-लंकार' स्याद्वादविद्यापति आ० वादिराजने रची है।—द० ला०।

३. सामायिक-पाठ

तीसरा सामायिक पाठ केवल १२ श्लोको मे किसी महात्मा ने ऐसा सुन्दर बनाया है कि ध्यानपूर्वक पढने से राग-द्वेष की कालिमा का बोध करा देता है।

४. मृत्यु-महोत्सव

चौथे मृत्युमहोत्सव ग्रन्थ मे हमने १८ मूल श्लोको के अतिरिक्त पूर्व मे ७ श्लोक श्री रत्नकाडश्रावकाचार मे से भी सम्मिलित कर दिये हैं। दिन-रात मौत से डरते रहने वाले ससारी जीवो के लिए मृत्युमहोत्सव के २५ श्लोक बडे काम की चीज हैं। इन श्लोको को ध्यानपूर्वक पढ़कर मनन करने से विवेकी पुरुपो को मृत्यु का भय वास्तव मे दूर हो सकता है।

५. समाधि-शतक

पाँचवाँ समाधिशतक ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि व जैनेन्द्रव्याकरण आदि के कर्त्ता श्री पूज्यपाद आचार्य के द्वारा १०५ श्लोको मे रचा गया है। इस अपूर्व ग्रन्थ के एक-एक अनुभवपूर्ण श्लोक द्वारा ग्रन्थकर्त्ता महाराज ने जिस प्रशम-पीयूप का पान कराया है उसका पता पाठको को इस ग्रन्थ का मनन करने से ही लग सकता है। भयकर सासारिक दु खो के कूप मे पडे हुए जिस पुरुष को अपनी आत्मा के उद्धार की उत्कट इच्छा हो उसको दु खकूप से बाहर निकलने के वास्ते रज्जु (रस्सी) का काम देने के लिये यह ग्रन्थ नि सन्देह समर्थ समझना चाहिए। तथा ससार के समस्त दु खो की असली जड का पता लगाना हो और उस जड को काट डालने की जिसकी इच्छा हो उसका कार्य इस ग्रथ के—

"मूल संसार-दु खस्य, देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापतेन्द्रिय ॥१५॥"

केवल इस श्लोक के अर्थ को मनन करके तदनुकूल क्रिया करने से चल जावेगा।

इस प्रकार इन पाँच छोटी-छोटी पुस्तको को शान्तरस की पोषक समझकर भाषानुवाद करके शान्ति सोपान के नाम से प्रकट किया है। यदि पाठक महाशयो को हमारा यह प्रयास पसन्द आवेगा तो आगामी और भी कोई पुस्तक अध्यात्मरसिक पाठको की सेवा मे अर्पित करने की चेष्टा की जायेगी।

अज्ञानवश यदि किसी श्लोक का भाव व्यक्त करने मे त्रुटि रह गई हो तो पाठक महोदय उसे सूचित करें।

मिती श्रावण शुक्ला १५
वी० स० २४४८,
खजाची की नशियाँ, जयपुर

प्रशम-पीयूष-पिपासु—
ब्रह्मचारी ज्ञानानन्द

श्री परमानन्दाय नमः ।

परमानन्द-स्तोत्र

परमानन्दसयुक्तं, निर्विकार निरामयम् ।
ध्यान-हीना न पश्यन्ति, निजदेहे व्यवस्थितम् ॥१॥

अर्थ—परमानन्द युक्त रागादिक विकारो से रहित, ज्वरादिक रोगो से मुक्त और निश्चय नय से अपने शरीर मे ही विराजमान परमात्मा को ध्यानहीन पुरुप नही देख सकते ।

अनन्तसुख-सम्पन्न, ज्ञानामृत-पयोधरम् ।
अनन्तवीर्य-सम्पन्न, दर्शन परमात्मन ॥२॥

अर्थ—अनन्तसुख विशिष्ट, ज्ञानरूपी अमृत से भरे हुए समुद्र के समान और अनन्तवलयुक्त परमात्मा का स्वरूप समझना चाहिये ।

निर्विकार निराबाध, सर्वसग-विवर्जितम् ।
परमानन्द-सम्पन्न, शुद्धचैतन्यलक्षणम् ॥३॥

अर्थ—रागादिक विकारो से रहित, अनेक प्रकार की सासारिक बाधाओ से मुक्त, सम्पूर्ण परिग्रहो से शून्य, परमानन्द विशिष्ट शुद्ध केवलज्ञानरूप चैतन्य ही परमात्मा का लक्षण मानना चाहिये ।

उत्तमा स्वात्मचिन्ता स्यान्मोहचिन्ता च मध्यमा।
अधमा कामचिन्ता स्यात् परचिन्ताऽधमाधमा ॥४॥

अर्थ—अपनी आत्मा के उद्धार की चिन्ता करना उत्तम चिन्ता है, प्रकृष्टमोह अर्थात् शुभराग वश दूसरे जीवो का भला करने की चिन्ता करना मध्यम चिन्ता है, काम भोग की चिन्ता करना अधम चिन्ता है और दूसरो का अहित करने का विचार करना अधम से भी अधम चिन्ता है।

निर्विकल्पसमुत्पन्नं ज्ञानमेव सुधारसम्।
विवेकमञ्जलिं कृत्वा तत्पिबन्ति तपस्विनः ॥५॥

अर्थ—आत्मा के असली स्वरूप को बिगाड़ने वाले अनेक प्रकार के सकल्प-विकल्पो को नाश करने से जो ज्ञानरूपी अमृत उत्पन्न होता है उसको तपस्वी महात्मा ही विवेक रूपी अंजलि से पीते हैं।

सदानन्दमयं जीवं यो जानाति स पण्डितः।
स सेवते निजात्मानं परमानन्दकारणम् ॥६॥

अर्थ—जो पुरुष निश्चय नय से सदा ही आत्मा मे रहने वाली परमानन्द दशा को जानता है वही वास्तव मे पण्डित है और वही पुरुष अपनी आत्मा को परमानन्द का कारण समझकर वास्तव मे उसकी सेवा करनी जानता है।

नलिन्यां च यथा नीरं, भिन्नं तिष्ठति सर्वदा।
अयमात्मा स्वभावेन, देहे तिष्ठति निर्मलः ॥७॥

अर्थ—जैसे कमलपत्र के ऊपर पानी की बूंद कमल से हमेशा भिन्न रहती है उसी प्रकार यह निर्मल आत्मा शरीर के भीतर

रह कर भी स्वभाव की अपेक्षा शरीर से सदा भिन्न ही रहता है अथवा कार्माणशरीर के भीतर रहकर भी कार्माणशरीरजन्य रागादि मलो से सदा अलिप्त रहता है।

द्रव्यकर्ममलैर्मुक्त भावकर्मविवर्जितम्।
नोकर्म-रहित विद्धि, निश्चयेन चिदात्मन ॥८॥

अर्थ—इस चैतन्यरूप आत्मा का स्वरूप निश्चय करके ज्ञानावरणादि रूप द्रव्यकर्मों से शून्य, रागादिरूप भावकर्मों से रहित व औदारिक-वैक्रियिक आदि शरीररूप नोकर्मों से रहित जानना चाहिये।

आनन्द ब्रह्मणो रूप, निजदेहे व्यवस्थितम्।
ध्यान-हीना न पश्यन्ति, जात्यन्धा इव भास्करम् ॥९॥

अर्थ—इस परमब्रह्मरूप परमात्मा के आनन्दमय स्वरूप को शरीर के भीतर मौजूद होते हुये भी ध्यान-हीन पुरुष नही जानते। जैसे जन्माध पुरुष सूर्य को नही जानता है।

तद्ध्यान क्रियते भव्यैं मनो येन विलीयते।
तत्क्षण दृश्यते शुद्धं चिच्चमत्कारलक्षणम् ॥१०॥

अर्थ—मोक्ष के इच्छुक भव्यजीवो को वही ध्यान करना चाहिए जिसके द्वारा यह चचल मन स्थिर होकर परमात्मस्वरूप मे विशेष रूप से लीन हो जावे, क्योकि जिस समय इस प्रकार का ध्यान होता है उसी समय चैतन्यचमत्कारस्वरूप का साक्षात् दर्शन होता है।

ये ध्यानशीला मुनय प्रधानास्ते दुःखहीना नियमाद्भवन्ति।
सम्प्राप्य शीघ्र परमात्मतत्त्व, व्रजन्ति मोक्ष क्षणमेकमेव ॥११॥

अर्थ—जिन मुनियो का उत्तम ध्यान करना ही स्वभाव है वे मुनिपुगव कुछ काल मे ही नियम से सर्व दु खो से छूटकर अर्हंत स्वरूप परमात्मपद को प्राप्त हो जाते है और बाद मे अयोगकेवली होकर क्षणमात्र मे अष्टकर्म रहित अविनश्वर मोक्षधाम मे सदा के लिये जा विराजमान होते हैं।

आनन्दरूप परमात्मतत्त्व, समस्त-सकल्प-विकल्प-मुक्तम् ।
स्वभावलीना निवसति नित्य जानाति योगी स्वयमेव तत्त्वम् ॥१२॥

अर्थ—निज स्वभाव मे लीन हुए मुनि ही परमात्मा के समस्त सकल्पो से रहित परमानदमय स्वरूप मे निरतर तन्मय रहते है और इस प्रकार के योगी महात्मा ही आगे कहे जाने वाले परमात्मस्वरूप को स्वय जानते है।

चिदानन्दमय शुद्ध निराकार निरामयम् ।
अनन्त-सुख-सम्पन्न सर्वसङ्ग विवर्जितम् ॥१३॥
लोकमात्र-प्रमाणोऽय निश्चयेन न सशय ।
व्यवहारे तनूमात्र कथित परमेश्वरै ॥१४॥

अर्थ—श्री सर्वज्ञदेव ने परमात्मा का स्वरूप चिदानदमय शुद्ध रूप, रस, गध, स्पर्शमय आकार से रहित अनेक प्रकार के रोगो से सर्वथा शून्य, अनतसुख विशिष्ट व सर्व परिग्रह रहित बताया है और निश्चय नय से आत्मा वा परमात्मा का आकार लोकाकाश के समान असख्यात प्रदेशी तथा व्यवहार नय से कर्मोदय से प्राप्त छोटे व वडे शरीर के बराबर बताया है।

यत्क्षण दृश्यते शुद्ध तत्क्षण गत-विभ्रम ।
स्वस्थ-चित्त स्थिरीभूत्वा, निर्विकल्पसमाधिना ॥१५॥

अर्थ—इस प्रकार ऊपर कहे हुए परमात्मा के स्वरूप को योगी पुरुष जिस समय निर्विकल्पसमाधि के द्वारा (ध्याता-ध्येय-ध्यान की अभिन्न रूप एक अवस्था हो जाने से) जान लेता है उस समय उस योगी का चित्त रागादि जन्य आकुलता से रहित स्थिर होता है और उसकी आत्मा को अनादि काल से भ्रम मे डालने वाले अज्ञानरूपी पिशाच का नाश हो जाता है। उस समय वह निश्चल योगी ही आगे कहे जाने वाले विशेषणो से विशिष्ट हो जाता है।

स एव परम ब्रह्म, स एव जिनपुगव ।
स एव परम तत्त्व, स एव परमो गुरु ॥१६॥
स एव परम ज्योति' स एव परम तप ।
स एव परम ध्यान, स एव परमात्मनः ॥१७॥
स एव सर्वकल्याण, स एव सुखभाजनम् ।
स एव शुद्धचिद्रूप, स एव परम शिव ॥१८॥
स एव परमानन्द, स एव सुखदायक ।
स एव परचैतन्य, स एव गुणसागर ॥१९॥

अर्थ—अर्थात् वह परमध्यानी योगी मुनि ही परमब्रह्म तथा घातिया कर्मो को जीतने से जिन शुद्धरूप हो जाने से परम आत्मतत्त्व, जगत्मात्र के हित का उपदेशक हो जाने से परमगुरु, समस्त पदार्थों के प्रकाश करने वाले ज्ञान से युक्त हो जाने से परमज्योति, ध्यान-ध्याता के अभेदरूप हो जाने से शुक्लध्यान रूप परमध्यान व परमतपरूप परमात्मा के वास्तविक स्वरूपमय हो जाता है तथा वही परमध्यानी मुनि ही सर्व प्रकार के कल्याणो से युक्त, परमसुख का पात्र, शुद्ध, चिद्रूप, परमशिव

पाषाणेषु यथा हेम, दुग्धमध्ये यथा घृतम् ।
तिलमध्ये यथा तैल, देहमध्ये तथा शिव· ॥२३॥

काष्ठमध्ये यथा वन्हि, शक्तिरूपेण तिष्ठति ।
अयमात्मा शरीरेषु, यो जानाति स पण्डित ॥२४॥

अर्थ—जिस प्रकार सुवर्ण-पाषाण मे सोना गुप्त रीति से छिपा रहता है तथा दुग्ध मे जैसे घृत व्याप्त रहता है, तिल में जैसे तेल व्याप्त रहता है उसी प्रकार शरीर मे परमात्मा को विराजमान समझना चाहिए। अथवा जैसे काष्ठ के भीतर अग्नि शक्तिरूप से रहती है उसी प्रकार शरीर के भीतर शुद्ध आत्मा को जो पुरुष शक्तिरूप से विराजमान देखता है वही वास्तव मे पण्डित है।

श्री भट्टाकलंकप्रणीत

स्वरूपसम्बोधन

मुक्तामुक्तैकरूपो यः, कर्मभिः संविदादिना।
अक्षयं परमात्मानं, ज्ञानमूर्तिं नमामि तम् ॥१॥

अर्थ—मंगलाचरण करते हुए आचार्य श्री अकलंकभट्ट कहते हैं कि जो अविनश्वर ज्ञानमूर्ति परमात्मा ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्मों से, रागादि भावकर्मों से व शरीर रूप नोकर्म से मुक्त (रहित) है और सम्यग्ज्ञान आदि अपने स्वाभाविक गुणों से अमुक्त (युक्त) है उस परमानन्दमय परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ।

अर्थात् उपर्युक्त तीन प्रकार के कर्मों को नष्ट कर देने के कारण जो मुक्तरूप है और अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य, आदि गुणों से युक्त होने के कारण जो अमुक्त रूप है और ज्ञान ही जिनकी मूर्ति है उस अविनश्वर परमात्मा को नमस्कार है।

मीमांसक परमात्मा को कर्म रहित नहीं मानते इसलिए उनके मत का निराकरण करने के लिए कर्ममुक्त विशेषण दिया गया है। नैयायिक व वैशेषिक, मुक्तजीव में ज्ञानादि विशेष गुणों का भी अभाव मानते हैं इसलिए ज्ञानादि से अमुक्त

विशेषण दिया है। कोई-कोई मतावलम्बी मुक्ति से फिर वापिस आना मानते है इसलिए अक्षय विशेषण दिया गया है, साख्य मतावलम्बी परमात्मा को ज्ञानरहित मानते हैं इसलिए ज्ञानमूर्ति विशेषण दिया गया है। और मुक्तामुक्त कहने से स्याद्वाद की सिद्धि भी की गई है तथा आगे भी प्राय प्रत्येक श्लोक मे स्याद्वाद की सिद्धि की जायगी।

सोऽस्त्यामा सोपयोगोऽय क्रमाद्धेतुफलावहः।
यो ग्राह्योऽग्राह्यनाद्यन्त. स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः ॥२॥

अर्थ—वह परमात्मा आत्मरूप होने के कारण स्वरूप है, और ज्ञान-दर्शन-रूप होने से कार्य स्वरूप भी है। इसी तरह केवल ज्ञान के द्वारा जानने योग्य होने से ग्राह्य स्वरूप है, और इन्द्रियो के द्वारा न जानने योग्य होने से अग्राह्य स्वरूप भी है।

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्यरूप है, और परिणमनशील होने से पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उत्पाद-विनाश स्वभाव भी है। इस प्रकार परमात्मा मे अनेक तरह से अनेकातपना सिद्ध होता है।

प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मक ।
ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मक ॥३॥

अर्थ—प्रमेयत्वादिक धर्मो की अपेक्षा से वह परमात्मा अचेतन रूप है और ज्ञान-दर्शन की अपेक्षा से चेतन रूप भी है अर्थात् दोनो अपेक्षाओ से चेतन-अचेतन स्वरूप है।

भावार्थ—आत्मा मे एक चेतना नाम का गुण है जिस गुण के ज्ञान व दर्शन ये दो पर्याय होते है। और इस चेतना गुण अथवा इसके ज्ञान-दर्शन पर्यायो की अपेक्षा से ही आत्मा चेतन

को सर्वथा भिन्न वा अभिन्न न मानकर कथंचित् भिन्न अथवा अभिन्न माना गया।

स्वदेह प्रमितश्चाय, ज्ञानमात्रोऽपि नैव स ।
तत सर्वगतश्चाय, विश्वव्यापी न सर्वथा ॥५॥

अर्थ—वह अरहत परमात्मा अपने परम औदारिक शरीर के बराबर है और बराबर नही भी है अर्थात् समुद्घात (मूल शरीर मे रहते हुए भी आत्मा के प्रदेशो का कारण विशेप से कार्मण आदि शरीरो के साथ बाहर निकलना) अवस्था मे जिस समय केवली भगवान् की आत्मा के प्रदेश सम्पूर्ण लोकाकाश मे फैल जाते हैं उस समय आत्मा औदारिक शरीर के बराबर नही है। इसी तरह वह परमात्मा ज्ञानमात्र है और ज्ञानमात्र नही भी है अर्थात् ज्ञानगुण को मुख्य करके व अन्य समस्त गुणो को गौण करके यदि विचारा जाय तो आत्मा या परमात्मा ज्ञानमात्र दृष्टि मे आता है और यदि अन्य गुणो को मुख्य किया जाय तो ज्ञानमात्र दृष्टि मे नही भी आता है। इसी तरह जब केवल ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण लोक व आलोक को जानने की अपेक्षा लेते हैं तब परमात्मा को सर्वगत भी कह सकते है क्योकि सम्पूर्ण पदार्थ परमात्मा से गत अर्थात् ज्ञात हैं और सम्पूर्ण पदार्थो को जानते हुए भी अरहन्त परमात्मा अपने दिव्य औदारिक शरीर मे ही स्थित रहता है इसलिए वह विश्वव्यापी नही भी है।

भावार्थ—परमात्मा मे उपर्युक्त धर्म कथचित् सिद्ध होते हैं, सर्वथा सिद्ध नही होते।

नानाज्ञानस्वभावत्वादेकोऽनेकोऽपि नैव स ।
चैतन्यैकस्वभावत्वादेकानेकात्मको भवेत् ॥६॥

अर्थ—इस आत्मा में मतिज्ञान (इन्द्रिय व मन से वस्तु को जानना) श्रुतज्ञान (मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ के सम्बन्धों को जानना) आदि अनेक ज्ञान होते हैं तथा और भी सम्यक्त्व (सच्चा विश्वास), चारित्र (सच्चा आचरण) आदि अनेक गुण होते हैं जिनके कारण यह आत्मा यद्यपि अनेक रूप हो रहा है तथापि अपने चेतन स्वरूप की अपेक्षा एकपने को नहीं छोड़ता, इसलिए इस आत्मा को कथंचित अनेक रूप भी जानना चाहिए।

भावार्थ—जैसे एक पुरुष एक स्वरूप होकर भी पिता, पुत्र, चचा, भतीजा आदि अनेक रूप कहा जाता है, क्योंकि पिता की अपेक्षा उसको पुत्र, और पुत्र की अपेक्षा उसीको पिता, भतीजे की अपेक्षा चचा और चचा की अपेक्षा भतीजा कहते हैं। इसी तरह एक आत्मा आत्मपने की अपेक्षा एक स्वरूप होकर भी अपने धर्मों की अपेक्षा अनेक रूप कहा जाता है।

> नाऽवक्तव्य स्वरूपाद्यैर्निर्वाच्य परभावत ।
> तस्मान्नैकान्ततो वाच्यो नापि वाचामगोचर ॥७॥

अर्थ—वह आत्मा अपने स्वरूप की अपेक्षा वक्तव्य (कहे जाने योग्य) होने से सर्वथा अवक्तव्य (न कहे जाने योग्य) भी नहीं है। और पर पदार्थों के स्वरूप की अपेक्षा अवक्तव्य होने से सर्वथा वक्तव्य भी नहीं है।

भावार्थ—प्रत्येक पदार्थ अपने धर्मों की अपेक्षा से कहा जाता है या पुकारा जाता है, पर के धर्मों की अपेक्षा से नहीं व्यवहार किया जाता। जैसे कि आम का फल, आम के नाम से कहा जाता है, केला अमरूद आदि के नाम से नहीं कहा जाता

इसलिए प्रत्येक वस्तु मे अपने स्वभाव से कहे जाने की योग्यता व अन्य पदार्थो के स्वभाव से कहे जाने की योग्यता समझते हुए आत्मा मे भी ऐसा ही समझना चाहिए।

स स्याद्विधि-निषधात्मा स्वधर्म परधर्मयो ।
स मूर्तिर्बोधमूर्तित्वादमूर्तिश्च विपर्ययात् ॥८॥

अर्थ—वह आत्मा अपने धर्मों का विधान करने वाला व अन्य पदार्थों के धर्मों का अपने मे निषेध करने वाला है और ज्ञान के आकार होने से वह आत्मा मूर्तिक तथा पुद्‌गलमय शरीर से भिन्न होने के कारण अमूर्तिक है।

भावार्थ—आत्मा मे जैसे स्वरूप की अपेक्षा विधिरूप धर्म है वैसे पर के स्वरूप की अपेक्षा निषेध रूप धर्म भी है। क्योकि जैसे ज्ञानादिक आत्मिक धर्मों की अपेक्षा आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है वैसे रूपरसादिक पुद्‌गल के धर्मो की अपेक्षा आत्मा की सत्ता नही सिद्ध होती। इसके अतिरिक्त, ज्ञान का पुज होने के कारण जैसे आत्मा मूर्तिक कहा जा सकता है उसी तरह पुद्‌गल परमाणुओ का बना हुआ न होने से अमूर्तिक भी कहलाता है।

इत्याद्यनेकधर्मत्व बन्धमोक्षौ तयो फलम् ।
आत्मा स्वीकुरुते तत्तत्कारणै स्वयमेव तु ॥९॥

अर्थ—इस प्रकार पहले कहे हुए क्रम के अनुसार यह आत्मा अनेक धर्मो को स्वय धारण करता है और उनके धर्मों के फल स्वरूप बध व मोक्ष रूप भी कारणाधीन स्वय परिणमता है।

भावार्थ—यह आत्मा राग-द्वेषादि कारणो से कर्म का बध करके पराधीन व दुखी भी अपने आपही होता है, और ज्ञान,

दीपक की तरह अपना तथा अन्य पदार्थों का प्रकाशक होता है, और अज्ञान-निवृत्ति रूप जो फल है उससे कथञ्चित् भिन्न भी है। स्त्री, पुत्रादिक बाह्य पदार्थों की मोह-ममता को त्याग कर जो अपनी ही क्रम-क्रम से होने वाली ज्ञान-दर्शनादिक पर्यायो मे आत्मा के उपयोग का स्थिर होना है उसे सम्यक्चारित्र कहते है। अथवा सासारिक सुख-दुखो मे मध्यस्थभाव रखने को सम्यकचारित्र कहते है, या मैं ज्ञाता दृष्टा हूँ, अपने कर्तव्य के फलस्वरूप सुख-दुखो का भोगने वाला स्वय अकेला ही हूँ, बाह्य स्त्री-पुत्रादि पदार्थों का मेरे से कोई सम्बन्ध नही है इत्यादि अनेक प्रकार की शुद्ध आत्मस्वरूप मे तल्लीन कराने वाली भावनाओ की दृढता को भी सम्यक्चारित्र कहते है।

तदेतन्मूलहेतो स्यात्कारण सहकारकम्।
तद्बाह्य देशकालादि तपश्च बहिरङ्गकम् ॥१५॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को जो ऊपर के श्लोको मे मोक्ष-प्राप्ति का मूल कारण बताया है उनके सह-कारी कारण बाह्य देश-कालादिक व अनशन, अवमौदर्य आदि बाह्य तप समझने चाहिए।

भावार्थ—मोक्ष-प्राप्ति मे जैसे रत्नत्रय अतरग कारण है वैसे ही उत्तम क्षेत्र, दुखमसुखमा काल व वज्रर्षभनाराचसहनन, उपवास आदि तप बाह्य कारण हैं।

इतीद सर्वमालोच्य, सौस्थ्ये दौ स्थ्ये च शक्तित ।
आत्मान भावयेन्नित्य, राग-द्वेष-विवर्जितम् ॥१६॥

अर्थ—इस प्रकार तर्क-वितर्क के साथ आत्मस्वरूप को अच्छी तरह जान कर सुख मे व दुःख मे यथाशक्ति आत्मा को नित्य ही राग-द्वेष रहित चिंतवन करना चाहिए अर्थात् सुख-सामग्री के मिलने पर राग नही करना चाहिए और अनिष्ट समागम मे द्वेष नही करना चाहिए, क्योकि ये सब इष्ट-अनिष्ट पदार्थ आत्मा की कुछ भी हानि नही कर सकते। इनका सम्बन्ध केवल शरीर से रहता है ऐसा विचार रखना चाहिए।

कषायैः रञ्जित चेतस्तत्त्व नैवावगाहते।
नीलीरक्तेऽम्बरे रागो, दुराधेयो हि कौङ्कुम ॥१७॥

अर्थ—क्रोधादि कषायो से रजायमान हुए मनुष्य का चित्त वस्तु के असली स्वरूप को नही पहिचान सकता, जैसे कि नीले कपडे पर केसर का रग नही चढ सकता।

भावार्थ—वस्तु के यथार्थस्वरूप को जानने का यत्न करने से भी पहले हृदय से क्रोधादि कषायो को दूर करना चाहिए, तभी वस्तु का वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो सकेगा। जैसे अग्नि से जली हुई भूमि मे अकुर नही उगता, वैसे ही कषाय से दग्ध हृदय मे धर्मांकुर नही उगता। प्रत्येक पुरुष को निरन्तर कषायो को दूर करने के लिए पूर्ण प्रयत्न करते रहना चाहिए, जिससे कि वे ससार सागर मे डूबी हुई अपनी आत्मा का उद्धार कर सके।

ततस्त्व दोष-निर्मुक्त्यै, निर्मोहो भव सर्वत।
उदासीनत्वमाश्रित्य तत्त्व-चिन्तापरो भव ॥१८॥

अर्थ—आचार्य व्यवहारी जीव से कहते हैं कि हे भाई! जब राग-द्वेष के बिना दूर किए आत्महित नही हो सकता तब

तुमको राग-द्वेष नष्ट करने के लिए शरीरादिक परपदार्थों का मोह त्यागकर और ससार, शरीर व भोगो से उदासीन भाव धारण करके तत्त्व-विचार मे तन्मय रहना चाहिए।

हेयोपादेयतत्त्वस्य, स्थिति विज्ञाय हेयत ।
निरालम्बो भवान्यस्मादुपेये सावलम्बन ॥१९॥

अर्थ—हेय (त्यागने योग्य) व उपादेय (ग्रहण करने योग्य) पदार्थों का स्वरूप जानकर हेय वस्तु को त्यागना चाहिए व उपादेय वस्तु को ग्रहण करना चाहिए।

भावार्थ—जो स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, शत्रु, मित्रादि पदार्थ आत्महित मे बाधक व रागद्वेष के बढाने वाले है उनसे सम्बन्ध छोडना चाहिए और ससारी को एकमात्र पच परमेष्ठी का शरण ग्रहण कर ज्ञान-ध्यानादि मे तन्मय रहना चाहिए।

स्व पर चेति वस्तुत्व, वस्तुरूपेण भावय ।
उपेक्षाभावनोत्कर्षपर्यन्ते शिवमाप्नुहि ॥२०॥

अर्थ—अपनी आत्मा के व पर पदार्थों के असली स्वरूप का बार-बार चितवन करना चाहिए और समस्त ससारी पदार्थों की इच्छा का त्याग करके उपेक्षा (राग-द्वेष के त्याग की) भावना को बढाते-बढाते मोक्ष पद प्राप्त करना चाहिए।

मोक्षेऽपि यस्य नाकाक्षा स मोक्षमधिगच्छति ।
इत्युक्तत्वाद्धितान्वेषी, कांक्षा न क्वापि योजयेत् ॥२१॥

अर्थ—जब किसी साधु महात्मा पुरुष के हृदय से मोक्ष की भी इच्छा निकल जाती है तभी उसको मुक्ति प्राप्त हो सकती है इस सिद्धान्त-वाक्य के ऊपर ध्यान देते हुए आत्महित के इच्छुक जीवो को सभी पदार्थों की इच्छा का त्याग करना चाहिए।

स्व स्व स्वेन स्थित स्वस्मै स्वस्मात्स्वस्याविनश्वरे ।
स्वस्मिन् ध्यात्वा लभेत्स्वोत्थमानन्दममृत पदम् ॥२४॥

अर्थ—इस श्लोक मे आचार्य आत्मा मे ही सातो कारक सिद्ध करते हुए कहते है कि व्यवहारी जीवो को अपने ही आत्मा मे अपने ही आत्महित के लिए अपने ही द्वारा अपने आप ही अपना ध्यान करना चाहिए और अपने ही ध्यान से उत्पन्न हुए परमानन्दमय अविनश्वर पद को प्राप्त करना चाहिए ।

इति स्वतत्त्व परिभाव्य वाङ्मय,
य एतदाख्याति शृणोति चादरात्
करोति तस्मै परमार्थसम्पद,
स्वरूपसम्बोधन-पञ्चविंशति ॥२५॥

अर्थ—श्री अकलकभट्टाचार्य उपसहार करते हुए ग्रन्थ का माहात्म्य वर्णन करते हैं कि जो पुरुष पच्चीस श्लोको मे कहे हुए इस 'स्वरूप-सम्बोधन' ग्रथ को पढेंगे, सुनेंगे और इसके वाक्यो द्वारा कहे हुए आत्मतत्त्व का बारम्बार मनन करेंगे उनको यह ग्रन्थ परमार्थ की सम्पत्ति अर्थात् मोक्षपद प्राप्त करावेगा ।

सामायिक-पाठ

सिद्धवस्तुवचो भक्त्या, सिद्धान् प्रणमत सदा ।
सिद्धकार्या शिव प्राप्ता, सिद्धि ददतु नोऽव्ययाम् ।।१।।

अर्थ—श्री सिद्ध परमेष्ठी व जगत् सिद्ध सभी पदार्थों के कहने वाले आगम को अथवा आगम के मूलकर्त्ता श्री अरहत भगवान् को भक्तिपूर्वक नमस्कार करके व उनके बताए हुए मार्ग पर चल करके जिन पुरुषो ने ससारदु ख के नष्ट करने रूप कार्य सिद्ध कर किया है, ऐसे जीवन्मुक्त अरहत देव व मोक्ष प्राप्त सिद्ध परमेष्ठी हमको भी अविनश्वर पद प्राप्त करावे ।

भावार्थ—जिन पुरुषो ने श्री अरहत देव व सिद्ध परमेष्ठी को अपना आदर्श मानकर व उनके बताए हुए मार्ग का अवलम्बन लेकर अरहत व सिद्ध पद प्राप्त किया है वे हमको भी उसी अविनश्वर पद के मार्ग पर लगावे । इस श्लोक मे यह बात भी बता दी गई है कि मोक्ष-प्राप्ति का एक-मात्र उपाय श्री अरहत व सिद्ध परमेष्ठी को आदर्श मानकर उनके बताए हुए मार्ग का अवलम्बन करना ही है ।

नमोऽस्तु धौत-पापेभ्य सिद्धेभ्य-ऋषि-ससदि ।
सामायिक प्रपद्येऽह, भव-भ्रमण-सूदनम् ।।२।।

अर्थ—समस्त कर्म-कलक को नष्ट कर देने वाले श्री सिद्ध परमेष्ठी को अत्यन्त भक्ति सहित अपने मनोमन्दिर मे विराजमान करके महर्षि पुरुषो के रहने योग्य कोलाहलादि से रहित पवित्र स्थान मे स्थिर होकर ससार दु ख को नाश करने वाली तथा परमानन्द पद को प्राप्त कराने वाली सामायिक को मैं प्रारम्भ करता हूँ।

साम्य मे सर्वभूतेषु, वैर मम न केनचित् ।
आशा सर्वां परित्यज्य, समाधिमहमाश्रये ॥३॥

अर्थ—सामायिक करते समय ऐसी भावना करनी चाहिए कि सम्पूर्ण जीवमात्र मे मेरी समता रहे, वैर भाव किसी के साथ भी न हो और समस्त सासारिक इच्छाओ को त्यागकर मैं निरन्तर आत्मध्यान मे तल्लीन रहूँ।

रागद्वेषान्ममत्वाद्वा, हो मया ये विराधिता ।
क्षमन्तु जन्तवस्ते मे, तेभ्य क्षमाम्यह पुन ॥४॥

अर्थ—अनादि काल से अब तक ससार चक्र मे भ्रमण करते हुए मैंने राग-द्वेष व मोहवश जिन जीवो का घात किया है उनसे मेरी अति विनयपूर्वक परोक्ष प्रार्थना है कि वे मुझे क्षमा करे मुझे स्वय भी अनादि काल से अब तक निरन्तर बनी हुई अपनी इस दुर्बुद्धि का अत्यन्त खेद है। इसके अतिरिक्त जिन जीवो से मेरे प्रति कुछ अपराध बन गया हो उनको भी मैं सरल हृदय से क्षमा करता हूँ।

मनसा वपुषा वाचा, कृत-कारित-सम्मतै ।
रत्नत्रय-भव दोष, गर्हे निन्दामि वर्जये ॥५॥

रागं द्वेषं भयं शोकं, प्रहर्षोत्सुक्य-दीनता
व्युत्सृजामि त्रिधा सर्वमरतिं रतिमेव च ॥७॥

अर्थ—राग, द्वेष, भय, शोक, हर्ष, उत्सुकता, दीनता, रति, अरति आदि सभी दोषों को मैं आत्मघातक समझकर मन वचन काय से सामायिक के काल तक त्यागता हूँ व हमेशा के लिए इनको त्यागने योग्य शक्ति प्राप्त करना चाहता हूँ।

जीविते मरणे लाभेऽलाभे योगे विपर्यये।
बन्धावरौ सुखे दुःखे सर्वदा समता मम ॥८॥

अर्थ—जीवन-मरण में, लाभ-अलाभ में, संयोग-वियोग में, शत्रु-मित्र में, व सुख-दुःख में, मेरे सदा समताभाव रहे ऐसा विचार करना चाहिए व सामायिक में इसी प्रकार का समता

भाव रखना चाहिए।

आत्मैव मे सदा ज्ञाने, दर्शने चरणे तथा।
प्रत्याख्याने ममात्मैव, तथा सवर-योगयो ॥९॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र व सम्यक् त्याग मे और कर्मों के रोकने व ध्यानादि करने मे मेरे एक आत्मा ही शरण है।

भावार्थ—आत्मा की शुद्ध दशा हो जाने पर ये सव गुण प्राप्त हो जाते हैं अथवा ये सव गुण आत्मा की शुद्ध दशा से भिन्न नही हैं इसलिए आत्मा शुद्ध होने पर इनकी प्राप्ति के लिए पृथक् प्रयत्न करने की आवश्यकता नही है।

एको मे शाश्वतश्चात्मा, ज्ञान-दर्शन-लक्षण ।
शेषा वहिर्भवा भावा सर्वे सयोगलक्षणा ॥१०॥

अर्थ—ज्ञानदर्शनस्वरूप एक नित्य आत्मा ही वास्तव मे मेरी निधि है, वाकी कर्मों के सयोग से होने वाले जो क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेप आदि परिणाम हैं या स्त्री, पुत्र, धन-धान्यादिक वाह्य पदार्थ हैं वे सव मुझसे भिन्न है उनसे मेरा वास्तव मे कोई सम्वन्ध नही है।

सयोगमूला जीवेन, प्राप्त दु ख-परम्परा।
तस्मात्सयोग-सम्वन्ध त्रिधा सर्वं त्यजाम्यहम् ॥११॥

अर्थ—इस मेरी आत्मा ने अनादि काल से अव तक ज्ञानावरणादि कर्मों के सयोग से ससार मे रुलते-रुलते वहुत दु ख पाये है, इसलिए अव मैं मन, वचन, काय से कर्मसम्वन्ध को त्यागता हूँ। इत्यादिक भावनाओ व विचारो द्वारा सामायिक करते समय अपने मन को हित-अहित का विवेचक बनाना

चाहिए।

एवं सामायिकात्सम्यक्, सामायिकमखण्डितम्।
वर्त्तते मुक्तिमानिन्या वशीभूतायते नमः ॥१२॥

अर्थ—इस प्रकार सामायिक पाठ में कही हुई रीति के अनुसार परम अखंडित सामायिक को करने से जो महात्मा पुरुष मुक्ति रूपी स्त्री के वशीभूत हो गए हैं अर्थात् जिनको मुक्ति प्राप्त हो गई है उनको मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

मृत्यु-महोत्सव

सल्लेखना किसे कहते हैं और वह कब की जाती है।

उपसर्गे दुर्भिक्षे, जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥१॥

अर्थ—जिसका कुछ प्रतिकार या इलाज न किया जा सके ऐसे किसी भयंकर सिंह आदि द्वारा खाये जाने आदि के उपसर्ग आ जाने पर, जिसमें शुद्ध भोजन सामग्री न मिल सके, ऐसे दुष्काल के पड़ जाने पर, जिसमें धार्मिक व शारीरिक क्रियायें यथोचित रीति से न पल सके ऐसे बुढ़ापे के आ जाने पर तथा किसी असाध्य रोग के हो जाने पर, धर्म की रक्षा के लिए शरीर के त्याग करने को व यथाशक्ति कषायों के मन्द करने को महात्मा पुरुष सल्लेखना या समाधि मरण कहते हैं।

आगे के श्लोकों में बताये हुए कारणों से इस मृत्यु अवस्था को दुःखदायक न समझकर एक प्रकार का उत्सव या महोत्सव समझना चाहिए, क्योंकि यह समय आयु पर्यन्त अभ्यास किये हुए ज्ञान, ध्यान, जप, तप आदि शुभ कार्यों की परीक्षा का है और किये हुए शुभ कार्यों के फल की प्राप्ति का है। जैसे वीर पुरुष बहुत काल तक शास्त्र-विद्या का अभ्यास कर युद्ध में जाते समय हर्ष मानता है और मरने का भय नहीं करता, उसी तरह इस

ज्ञानी पुरुष को भी मृत्यु-समय में कुटुम्बियों आदि से व शरीर से मोह त्यागने में बहादुरी दिखानी चाहिए।

तप के फलस्वरूप समाधि मरण के लिए प्रयत्न—

> अन्तक्रियाधिकरणं, तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
> तस्माद्यावद्विभवं, समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥२॥

अर्थ—आयु पर्यन्त किये हुए तप का फल श्री अरहंत देव ने अन्त समय में होने वाला समाधि मरण कहा है, इसलिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति को लगाकर समाधि मरण करने में परम प्रयत्न करना चाहिए।

भावार्थ—जैसे बहुत काल तक शास्त्राभ्यास करके भी परीक्षा के समय अनुत्तीर्ण (फ़ेल) हो जाने वाला छात्र प्रशंसा का पात्र नहीं होता अथवा युद्ध में हार जाने वाले सिपाही की जैसे कोई बड़ाई नहीं करता उसी तरह आयुपर्यन्त तप आदि करके भी जो पुरुष मरण समय में शरीर के या सम्बन्धियों के मोह से विह्वल हो जाते हैं, उनका तप या ज्ञानादिक पाना प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। इसलिए अन्त समय में शरीर को कारागृह (कैदखाने) और सम्बन्धियों को पहरेदार के समान समझकर दोनों से प्रेम त्यागना चाहिए। क्योंकि तप, ज्ञान, ध्यान आदि उत्तम कार्यों के करने से परलोक में मिलने वाली जो उत्तम विभूति है उसके शीघ्र प्राप्त होने में शरीर व सम्बन्धी बाधक होते हैं।

समाधि मरण के समय का कर्तव्य—

> स्नेहं वैरं संगं, परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः।
> स्वजनं परिजनमपि च, क्षान्त्वा क्षमयेत् प्रियैर्वचनैः ॥३॥

अर्थ—समाधि मरण के समय शुद्ध मन पूर्वक मित्रों से प्रेम,

शत्रुओ से वैर व स्त्री-पुत्रादिक से पति-पिता आदि का सम्बन्ध त्यागकर और सर्व प्रकार के चेतन-अचेतन परिग्रह से अर्थात् गाय-भैंस, दासी-दास, रुपये-पैसे, घर-बार आदि से स्वामीपने की बुद्धि का त्याग करके सम्पूर्ण कुटुम्बियो व अन्य मेल-मिलापी जनो से क्षमा कराना चाहिए और स्वय भी मिष्ट वचनो द्वारा सबको क्षमा करे।

भावार्थ—गृहवास को सराय मे किये हुए पडाव के समान या एक वृक्ष पर किये हुए अनेक पक्षियो के बसेरे के समान समझकर अपने को अकेला ही समझना चाहिए। मुसाफिरखाने की भीड को भाई, बधु, ताऊ, चाचा, पुत्र, मित्र आदि समझकर आकुलित होने से इस जीव का कोई भी लाभ नही होता। इसलिए उक्त विचारो के द्वारा सबसे मोह त्यागकर आनन्द पूर्वक इस जीर्ण, शीर्ण, दुर्गन्धमय व रोग ग्रसित शरीर से कूच करने के लिए तैयारी करनी चाहिए।

मृत्यु-महोत्सव की तैयारी—

आलोच्य सर्वमेन कृतकारितमनुमत च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि नि शेषम् ॥४॥

अर्थ—आयु पर्यन्त मन-वचन-कार्य से व कृत, कारित, अनुमोदना (करना-कराना, खुशी-मनाना) से सचय किये हुए समस्त पाप कार्यो की आलोचना-निंदा करके मरण पर्यन्त के लिए समस्त महाव्रतो (अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह) को धारण करना चाहिये।

शोक भयमवसाद, क्लेद कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्वोत्साहमुदीर्य च, मन प्रसाद्य श्रुतैरमृतै ॥५॥

त्रय की प्राप्ति रूपी पाथेय (कलेवा) देवें, जिससे कि मैं मोक्ष-नगर मे जा पहुँचूं।

भावार्थ—अरहत देव आदि की प्रार्थना या भक्ति करने से यद्यपि साक्षात् मोक्ष-प्राप्ति नही होती, तथापि पुन्यबन्धपूर्वक परम्परा हो सकती है।

मरने मे भय क्यो किया जाय ?

कृमिजाल-शताकीर्णे, जर्जरे देहपजरे।
भज्यमाने न भेतव्य, यतस्त्व ज्ञानविग्रह ॥९॥

अर्थ—मरण के भय को दूर करने के लिए मरते समय आत्मा को ऐसे समझना चाहिए कि हे आत्मन् ! तू तो ज्ञानरूपी दिव्य शरीर का धारी है इसलिए सैकडो कीड़ो के समूह से भरे हुए इस जीर्ण-शीर्ण शरीर रूपी पीजरे के नाश होते समय मुझे कदापि भय करना उचित नही है।

भावार्थ—यह विचारना चाहिए कि अनादि काल से ससार चक्र मे भ्रमण करते-करते ये हाड-मास के शरीर तो मैंने इतने पा लिए हैं, यदि वे सब इकट्ठे हो सकते तो उनमे यह सम्पूर्ण तीन लोक भर जाता, अब एक शरीर के नष्ट होने मे भी दु ख मानना या भय करना योग्य नही है।

नये नगर को गमन—

ज्ञानिन् भय भवत्कस्मात्प्राप्ते मृत्युमहोत्सवे।
स्वरूपस्थ. पुर याति देही देहान्तरस्थिति ॥१०॥

अर्थ—हे ज्ञानी आत्मन् ! इस मृत्यु रूप महोत्सव के प्राप्त होने से तू क्यो भय करता है क्योकि इस मृत्यु के द्वारा तो तू

अपने ज्ञानादिक स्वरूप में स्थित रहता हुआ शरीरान्तर रूप नये नगर को गमन करता है।

भावार्थ—मृत्यु जब आत्मा की ज्ञान, दर्शन आदि निधि को नहीं छीनती किन्तु उसको इस जीर्ण-शरीर रूपी टूटी-फूटी झोंपड़ी से निकालकर नवीन शरीर रूपी मनोहर महल में पहुँचाती है तब उसको भयकारी या दुखदायी समझकर हितकारी ही समझना चाहिए।

मरण से स्वर्ग के सुख—

सुदत्तं प्राप्यते यस्मात्, दृश्यते पूर्वसत्तमैः।
भुज्यते स्वर्भवं सौख्यं, मृत्युभीतिः कुतः सताम् ॥११॥

अर्थ—महात्मा पुरुष कहते हैं कि जब मृत्यु के द्वारा जन्म भर दिये हुए दानों के फल स्वर्गादिक के सुख प्राप्त होते हैं, तब मृत्यु जैसे उपकारी मित्र से भय करना कैसे उचित हो सकता है।

मृत्यु-भूपति का स्वागत—

आगर्भाद्दुःखसन्तप्तः प्रक्षिप्तो देह-पञ्जरे।
नात्मा विमुच्यतेऽन्येन, मृत्यु-भूमिपतिं विना ॥१२॥

अर्थ—समाधि मरण करते समय विचारना चाहिये कि कर्म रूपी शत्रु ने मुझे इस देह रूपी पिंजरे में लाकर बन्द कर रक्खा है जिसके कारण मैं गर्भ से लेकर अब तक अनेक प्रकार के दुःख भोग रहा हूँ। इस शरीर को मैंने जन्म भर उत्तम-उत्तम भोजन कराये, अच्छे-अच्छे वस्त्र पहिनाये और अनेक प्रकार की सुख-सामग्री प्राप्त करवाई, स्वयं अनेक प्रकार के लोभादि कषायों से सन्तप्त रह-कर धन कमा-कमाकर इसको अनेक प्रकार के आराम दिये, किन्तु इस कृतघ्न ने मुझे कभी सुख न दिया। अच्छे भोजनों का मलमूत्र

रुधिर आदि बनाकर उनमे मुझको सडाया, दिव्य से दिव्य वस्त्रो को इसने बदबूदार बनाया, ससार के अनेक जीवो से झूठे नाते जुडवाये इत्यादि अनेक दु खो के कारण मैं इससे तग आ गया हूँ और मृत्युरूपी बलवान राजा के बिना और कोई इस दुष्ट शरीर रूपी पिशाच से मुझे बचाने के लिये समर्थ नही है इसीलिये स्वय ही मेरे पास आये हुये मृत्यु-महाराज का मुझे बडा उपकार मानना चाहिये।

मृत्यु-मित्र—

सर्व-दु.ख-प्रद पिण्ड, दूरीकृत्यात्मदर्शिभिः।
मृत्यु-मित्र-प्रसादेन, प्राप्यते सुख सम्पद ॥१३॥

अर्थ—आत्मदर्शी ज्ञानी पुरुष रूपी मित्र के प्रसाद से सब दु खो को देने वाले इस देह रूपी पिंड को त्यागकर सुख-सम्पत्ति को प्राप्त होते है अर्थात् गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त इस अपवित्र शरीर मे निवास करके जीवो को जो अनेक दु ख भोगने पडते है उन सबसे छुडाकर स्वर्ग आदिक सुख को प्राप्त कराने के लिये मृत्यु ही समर्थ है इसीलिये ज्ञानी पुरुष मृत्यु को मित्र के समान जानते हैं।

मृत्यु-कल्पवृक्ष—

मृत्यु-कल्पद्रुमे प्राप्ते येनात्मार्थो न साधित ।
निमग्नो जन्म-जम्बाले, स पश्चात् किं करिष्यति ॥१४॥

अर्थ—जिस पुरुष ने मृत्युरूपी कल्पवृक्ष को प्राप्त करके भी अपनी आत्मा का हित साधन नही किया वह फिर ससार-रूपी कीचड मे फसकर अर्थात् दुर्गति मे जाकर पाये हुये नीच शरीर मे कैद हो जाने के बाद अपना क्या कल्याण कर

सकेगा।

भावार्थ—मरते समय जो जीव अपने परिणामों को विशुद्ध रखता है वह उत्तम गति को प्राप्त होता है और जो मोह-माया में फँसकर मरता है वह दुर्गति में जाता है। इसलिये मरते समय जैसे बने वैसे प्रयत्नपूर्वक विशुद्ध परिणाम रखने चाहिये।

बिना प्रयत्न सुन्दर शरीर व उत्तम इन्द्रियों की प्राप्ति—

जीर्णं देहादिकं सर्वं, नूतनं जायते यतः।
स मृत्युः किं न मोदाय, सतां सातोत्थितिर्यथा ॥१५॥

अर्थ—जिस मृत्यु के द्वारा जीर्ण-शीर्ण शरीर व शिथिल इन्द्रियाँ छूट जाती हैं और नवीन शरीर व उत्तम इन्द्रियाँ प्राप्त हो जाती हैं। साता वेदनीय कर्म के उदय की भाँति उस मृत्यु के आने पर जीवों को क्या हर्ष नहीं मानना चाहिये? किन्तु अवश्य मानना चाहिये।

भावार्थ—जैसे साता वेदनीय कर्म के उदय (फल देने) से जीवों को अनेक प्रकार की सांसारिक सुख-सामग्री प्राप्त होती है उसी तरह मृत्यु होने पर भी परलोक में व इस भव में किये हुए पुण्य कर्मों का उत्तम फल मिलता है। इसलिये जैसे साता कर्म के उदय को संसारी जीव चाहते हैं वैसे ही मृत्यु आने पर उसका भी हर्ष मानना चाहिये।

सुख-दुःख आत्मा को होता है न कि शरीर को—

सुखं दुःखं सदा वेत्ति देहस्थश्च स्वयं व्रजेत्।
मृत्युभीतिस्तदा कस्य जायते परमार्थतः ॥१६॥

अर्थ—सुख-दुःख का अनुभव शरीर में स्थित जो आत्मा है

उसको होता है, शरीर को नही होता, और मृत्यु-समय स्वय शरीर से निकलकर परलोक मे जाता ही है, यही रहकर शरीर की तरह नष्ट होता नही, फिर मृत्यु का भय वास्तव मे किसको मानना चाहिये ? अर्थात् किसी को भी मानना नही चाहिये, क्योकि जिस आत्मा को सुख-दु ख होता है उसका तो मरने से कुछ बिगडता नही और जो शरीर नष्ट होता है उसको सुख-दु ख का ज्ञान नही, इसलिये बिना ज्ञान के शरीर को भय भी नही लग सकता, आत्मा शरीर के मोह से भय करता है सो उसको नवीन शरीर मिल जाने के कारण भय उचित नही।

मृत्यु ज्ञानी के प्रमोद और अज्ञानी के शोक का कारण है—

ससारासक्त चित्ताना मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम् ।
मोदायते पुन सोऽपि ज्ञान वैराग्य वासिनाम् ॥१७॥

अर्थ—जिस पुरुषो का चित्त ससार मे आसक्त हो रहा है उनके लिए मृत्यु भय का कारण है और जो महात्मा पुरुष आत्म-ज्ञान मे तल्लीन है तथा ससार से उदास हैं उनको मृत्यु के आने का भी हर्ष होता है, शोक नही होता।

देहाधिपति की बेरोक यात्रा—

पुराधीशो यदा याति सुकृतस्य बुभुत्सया ।
तदासौ वार्यते केन प्रपञ्चै पाञ्चभौतिकै ॥१८॥

अर्थ—इस शरीर रूपी नगर का मालिक यह आत्मा किये हुए पुण्य के फल को प्राप्त करने की इच्छा से जब परलोक यात्रा करता है तब यह पचभूतमय शरीर उसको कदापि नही रोक सकता।

भावार्थ—जब तक इस जीव में इस लोक-सम्बन्धी आयु का उदय रहता है तभी तक शरीर आत्मा को कैद कर सकता है, और जिस समय यह आयु समाप्त हो जाती है व दूसरी आयु का उदय आ जाता है उस समय आत्मा को परलोक जाने से शरीर तो क्या बड़े-बड़े इन्द्रादिक भी नही रोक सकते।

मृत्यु-समय की पीडा ज्ञानी को वैराग्य का कारण है—

मृत्यु-काले सतां दुःखं, यद्भवेद् व्याधि-सम्भवम्।
देह मोह-विनाशाय, मन्ये शिव-सुखाय च ॥१९॥

अर्थ—मृत्यु-समय में जो प्राय रोग-सम्बन्धी पीडा होती है उसे भी ज्ञानी पुरुष शरीर से मोह त्यागने मे कारण मानते हैं और परलोक के उत्तम सुखो का निमित्त जानते है, क्योकि अनेक प्रकार के रोगो से जीर्ण-शीर्ण दुर्गन्धित शरीर मे निवास करने से उनको उस तरह की अरुचि हो जाती है जैसी कि एक उच्चकुलीन पवित्र पुरुष को चाण्डाल आदि के दुर्गन्धमय घिनावने घर से होती है।

मृत्यु, को ज्ञानी सुख और अज्ञानी दुःख का कारण मानते हैं—

ज्ञानिनोऽमृतसगाय मृत्युस्तापकरोऽपि सन्।
आमकुम्भस्य लोकेऽस्मिन् भवेत्पाकविधिर्यथा ॥२०॥

अर्थ—अज्ञानी जीवो को मृत्यु दुःखदायी मालूम देने पर भी ज्ञानी पुरुषो को सुधा के समान सुख का कारण मालूम होती है। क्योकि वे जानते हैं कि जब तक कच्चा घडा अग्नि मे नही पकाया जाता तब तक उसमे जैसे अमृत स्वरूप जल नही भरा जाता उसी प्रकार मरण समय मे होने वाले रोगादिको की पीडा को शातिपूर्वक सहे विना स्वर्ग-मोक्ष के सुख नही मिल सकते

ऐसे विचारो के कारण ही ज्ञानी पुरुषो को मरण का दु ख नही होता ।

कठिन तप व समाधि मरण के फल की समानता—

यत्फल प्राप्यते सद्भिर्व्रतायासविडम्बनात् ।
तत्फल सुखसाध्य स्यान्मृत्युकाले समाधिना ॥२१॥

अर्थ—जो फल वडे-बडे व्रती पुरुषो को कायक्लेश आदि तप, व्रत आदि के धारण करने से प्राप्त होता है वह फल अन्त समय मे सावधानी पूर्वक किये हुए समाधि मरण से जीवो को सहज मे ही प्राप्त हो जाता है ।

भावार्थ—जो आत्म-विशुद्धि अनेक प्रकार के कठिन व्रता-चरण व तप करने से होती है वह मरण समय मे कुछ काल तक ही शान्ति धारण करने व ससार का मोह त्यागने से प्राप्त हो जाती है ।

शान्तिपूर्वक मृत्यु का फल—

अनार्त्त मान्मर्त्यो शाति, न तिर्यङ्नापि नारक ।
धर्मध्यानी पुरो मर्त्योऽनशनी त्वमरेश्वर ॥२२॥

अर्थ—जो पुरुष अन्त समय मे आर्त्त रौद्र परिणाम न करके शातिपूर्वक मरण करता है वह तिर्यञ्च गति व नरक गति मे नही जाता, और जो ज्ञानी जन धर्मध्यानपूर्वक उपवास करके परलोक यात्रा करते है वे स्वर्ग के इन्द्र आदि उत्तम पदो को प्राप्त करते हैं ।

समाधि मरण से ही व्रत, तप व शास्त्रज्ञान सफल होते है-

तप्तस्य तपसश्चापि, पालितस्य व्रतस्य च ।
पठितस्य श्रुतस्यापि, फल मृत्यु समाधिना ॥२३॥

अर्थ—वहुत काल तक किये हुए उग्र तपो का, पाले हुए व्रतो का और निरन्तर अभ्यास किये हुये शास्त्रज्ञान का एक मात्र फल शान्तिपूर्वक आत्मानुभव करते हुये समाधिमरण करना है।

भावार्थ—यदि कोई पुरुष आयु पर्यन्त तप करके, व्रत पालके व शास्त्राभ्यास करके भी मरण समय मे मोह को घटा कर शात परिणाम न कर सका तो उसका व्रतादिक पालने का सब परिश्रम एक तरह से व्यर्थ ही समझना चाहिये।

नवीन से प्रेम और पुराने से अरुचि—

अतिपरिचितेष्ववज्ञा नवे भवेत्प्रीतिरिति हि जनवाद ।
चिरतरशरीरनाशे, नवतरलाभे च किं भीरु ॥२४॥

अर्थ—ससारी जीवो का प्राय ऐसा नियम है कि वे अच्छी से अच्छी वस्तु का भी अत्यत परिचय होने पर एक प्रकार से तिरस्कार करने लगते है, और नवीन वस्तु चाहे अच्छी भी न हो तो भी उसमे प्रीति किया करते है, इस नियम को लेकर शास्त्रकार ससारी जीवो से कहते है कि भाई मरने से तो तुम्हे पुराना शरीर छूटकर नवीन शरीर मिलता है फिर तुम मरने से क्यो डरते हो।

स्वर्गादेत्य पवित्र-निर्मल-कुले सस्मर्यमाणा जनै ।
दत्वा भक्तिविधायिना बहुविध वाञ्छानुरूप धनम् ॥
भुक्त्वा भोगमहर्निश परकृत स्थित्वा क्षण मण्डले ।
पात्रावेशविसर्जनामिव मृति सन्तो लभन्ते स्वत ॥२५॥

अर्थ—पहले श्लोको मे बताया है कि जो ज्ञानी महात्मा पुरुष मरण समय मे धर्मध्यानपूर्वक शान्तचित्त से व्रत-उपवासादि करते हुए शरीर छोडते हैं वे स्वर्गों मे जाकर इन्द्रादिक की

सम्पत्ति को प्राप्त करते हैं। अब इस श्लोक मे बताते है कि वे ही पुण्यात्मा पुरुष स्वर्ग की आयु सामाप्त कर बडे-बडे पवित्र जगत् पूज्य उत्तम कुलो मे अवतार लेकर अनेक उत्तम पुरुषो से पूजे जाते हैं अर्थात् तीर्थंकरादि पद प्राप्त करते हैं, और कुछ पृथिवी-मण्डल मे विराजमान रहकर पुण्योदय से उपार्जित अनेक उत्तमोत्तम भोगो को निरन्तर भोगते हुए तथा भक्त पुरुषो को मनोवाछित फल देते हुए, अन्त मे तप करके जगत् को एक प्रकार का नाटक-सा दिखाकर व अनादि कालीन कार्माण शरीर के सम्बन्ध को भी छोडकर परमानन्द मय परमपद को प्राप्त हो जाते हैं।

श्री पूज्यपाद स्वामी विरचित

समाधि-शतक

मोक्षार्थी पुरुषो को मोक्ष स्वरूप वताने की इच्छा रखने वाले श्री पूज्यपाद स्वामी प्रारम्भ मे मगला, चरण रूप श्री सिद्ध परमेष्ठी का नमस्कार करते हैं—

येनात्माऽवुध्यतात्मैव, परत्वेनैव चापरम् ।
अक्षयाऽनन्तवोधाय, तस्मै सिद्धात्मने नम ॥१॥

अन्वयार्थ—(येन आत्मा आत्मा एव अवुध्यत) जिसने आत्मा को आत्मा ही जाना है (च अपर परत्वेन एव) और पर को पर रूप से ही जाना है (तस्मै अक्षयानन्तवोधाय सिद्धात्मने नम) उस अविनश्वर व अनन्त ज्ञान वाले सिद्ध परमेष्ठी के लिये नमस्कार हो ।

श्री अरहत परमेष्ठी को नमस्कार—

जयन्ति यस्याऽवदतो ऽपि भारती-
विभूतयस्तीर्थकृतोऽप्यनीहितु ।
शिवाय धात्रे सुमताय विष्णवे,
जिनाय तस्मै सकलात्मने नम ॥२॥

अन्यवार्थ—(अवदत अपि अनीहितु अपि यस्य तीर्थंकृत) तालु, ओष्ठ आदि वचन का उच्चारण नही करते हुए भी और जगत् के हित की इच्छा न रखते हुए भी जिस तीर्थंकर भगवान् की (भारतीविभूतय जयन्ति) वाणी—सब जीवो का हित प्रतिपादरूपीविभूति अथवा समवशरणादि विभूति जय को प्राप्त होती हैं। (तस्मै शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे जिनाय सकलात्मने नम अस्तु) उस कल्याणरूप, असि, मसि, कृषि आदि के उपदेश द्वारा जगत् का उद्धार करने वाले, अनन्त चतुष्टय को प्राप्त करने वाले, केवल ज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों मे व्यापने वाले, और घातिया कर्मों को जीतने वाले, दिव्य शरीर धारी परमात्मा के लिए नमस्कार हो ॥२॥

ग्रन्थ बनाने की प्रतिज्ञा—

श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्ति समाहितान्त करणेन सम्यक् ।
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणा, विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ॥३॥

अन्वयार्थ—अब इष्टदेव को नमस्कार करने के अनन्तर (विविक्त आत्मन) कर्ममल रहित आत्मा के स्वरूप को (श्रुतेन लिंगेन समाहितान्त करणेन सम्यक् समीक्ष्य) शास्त्र के द्वारा, हेतु के द्वारा और एकाग्र मन से प्राप्त किये अनुभव के द्वारा सम्यक् प्रकार जानकर (कैवल्यसुखस्पृहाणा) सकल कर्म अभाव रूप कैवल्य पद और अनन्त सुख की इच्छा रखने वालो के लिये (यथात्मशक्ति अभिध्यास्ये) अपनी ज्ञानशक्ति को न छिपाकर कहूँगा।

आत्मा के भेद—

बहिरन्त परश्चेति, त्रिधात्मा सर्वदेहिषु ।
उपेयात्तत्र परम, मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत् ।।४।।

अन्वयार्थ—(सर्वदेहिषु वहि अन्त च पर इति त्रिधा आत्मा) सर्व जीवो मे वहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा इस प्रकार आत्मा की तीन अवस्था होती है। (तत्र मध्योपायात् वहि त्यजेत् परम उपेयात्) उनमे अन्तरात्मा को साधनरूप मानकर वहिरात्मा अवस्था को छोडना चाहिये और परमात्मा अवस्था को प्राप्त करना चाहिये।

भावार्थ—प्रत्येक ससारी जीव मिथ्यात्व अवस्था मे बहिरात्मा, सम्यक्त्व प्राप्त होने पर अन्तरात्मा, केवलज्ञान प्राप्त हो जाने पर परमात्मा हो सकता है। अभव्य जीवो मे भी अन्तरात्मावस्था और परमात्मावस्था शक्ति रूप से है परन्तु अभव्यो मे इन दोनो अवस्थाओ के व्यक्त होने की योग्यता नही है। यदि ऐसा न माना जायगा तो फिर अभव्यो मे केवल ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध व्यर्थ हो जायगा। सर्वज्ञ मे भी भूतप्रज्ञापननय की अपेक्षा बहिरात्मावस्था व अन्तरात्मावस्था सिद्ध होती है। इन तीनो अवस्थाओ मे से जिन ससारी जीवो की बहिरात्मावस्था व्यक्त हो रही है उनको प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त कर बहिरात्मावस्था को त्याग अपनी अन्तरात्मावस्था व्यक्त करनी चाहिये।

प्रत्येक अवस्था का लक्षण—

बहिरात्मा शरीरादौ, जातात्मभ्रान्तिरान्तर ।
चित्तदोषात्मविभ्रान्ति, परमात्माऽतिनिर्मल ।।५।।

अन्वयार्थ—(शरीरादौ जातात्मभ्रान्ति बहिरात्मा) शरीर

और आदि शब्द से लिये हुए वचन व मन मे उत्पन्न हो रहा है आत्मा का भ्रम जिसको वह वहिरात्मा है (चित्त-दोषात्म-विभ्राति अन्तर) और जिसको चित्त के विकल्प रागादिक दोष व आत्मा के स्वरूप के विषय मे कुछ भी भ्रान्ति अर्थात् अज्ञान नही है वह अन्तरात्मा है (अतिनिर्मल परमात्मा) और जिसकी आत्मा अत्यन्त निर्मल हो गई हो वह परमात्मा है।

परमात्मा वाचक नाम—

निर्मल केवला शुद्धो, विविक्ति प्रभुरव्यय ।
परमेष्ठी परात्मेति, परमात्मेश्वरो जिन ॥६॥

अन्वयार्थ—(निर्मल) कर्मरहित (केवल) शरीरादि सम्वन्ध रहित (शुद्ध) द्रव्यकर्म व भाव कर्म के नाश हो जाने से परम विशुद्धता युक्त (विविक्त) शरीर और कर्म दोनो से रहित (प्रभु) इन्द्रादिक का स्वामी (अव्यय) प्राप्त हुए अनन्त चतुष्टय से च्युत नही होने वाला (परमेष्ठी) इन्द्रादिक से भी वन्दनीक परमपद मे स्थित रहने वाला (परमात्मा) ससारी जीवो से उत्कृष्ट जिसका आत्मा है। (ईश्वर) अन्तरग अनन्त चतुष्टय और वाह्य समवशरणादि ऐश्वर्य से जो युक्त है (जिन कर्मो को जीतने वाला है इति परमात्मा) इस प्रकार बहुत से परमात्मा के वाचक शब्द होते हैं।

वहिरात्मा की शरीरादिक मे आत्म बुद्धि होने का हेतु—

वहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञान-पराड्मुख ।
स्फुरितश्चात्मनो देहमात्मत्वेनाऽध्यवस्यति ॥७॥

अन्वयार्थ—(इन्द्रियद्वारै 'वहिर्थग्रहणे' स्फुरित बहिरात्मा आत्मज्ञानपराड्मुखो 'भवति') इन्द्रियो के द्वारा वाह्य पदार्थों

को ग्रहण करने मे ही लगे रहने के कारण यह बहिरात्मा आत्म-ज्ञान से पराङ्मुख रहता है ('तनएव' च आत्मन देह आत्मत्वेन 'अध्यवस्यति') और इसीलिये अपने शरीर को आत्मा समझता है।

आत्मा मे मनुष्यादिक की कल्पना—

नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम्।
तिर्यञ्च तिर्यगंगस्थ, सुराङ्गस्थ सुर तथा ॥८॥
नारक नारकागस्थ, न स्वय तत्त्वतस्तथा।
अनन्तानन्तधीशक्ति, स्वसवेद्योऽचलस्थिति ॥९॥

अन्वयार्थ—(अविद्वान् नरदेहस्थ आत्मानम् नरम्) बहि-रात्मा मनुष्य के शरीर मे स्थित आत्मा को मनुष्य और (तिर्य-गस्थ तिर्यञ्च तथा सुराङ्गस्थ सुर मन्यते) तिर्यञ्च के शरीर मे स्थित आत्मा को तिर्यञ्च तथा देव के शरीर मे स्थित आत्मा को देव मानता है।

(एवमेव नारकागस्थ आत्मान नारकम् मन्यते) इसी प्रकार नारकी के शरीर मे स्थित आत्मा को नारकी मानता है (तत्त्वत: स्वय तथा न) परन्तु यह आत्मा परमार्थ से स्वय ऐसा नही है।

भावार्थ—मनुष्य गति मनुष्य आयु आदिक कर्मों के उदय के निमित्त से ही जीवो मे मनुष्य तिर्यञ्च आदि का व्यवहार होता है। वास्तव मे यह जीव कर्म निमित्त विना स्वय मनुष्यादि रूप नही है किन्तु यह वास्तव मे (अनन्तानन्तधीशक्ति स्वसम्वेद्य अचलस्थिति) अनन्तानन्त ज्ञान वाला अनन्तानन्त बल वाला तथा अपने द्वारा ही जानने योग्य और अपने स्वरूप मे ही निश्चल स्थित रहने वाला है।

पर के शरीर मे परमात्मबुद्धि—

स्वदेहसदृश दृष्ट्वा, परदेहमचेतनम् ।
परात्माधिष्ठित मूढ़ , परत्वेनाऽध्यवस्यति ॥१०॥

अन्वयार्थं—(मूढ स्वदेहसदृश परात्माधिष्ठित अचेतन पर-देह दृष्ट्वा परत्वेन अध्यवस्यति) बहिरात्मा अपने शरीर के समान दूसरो की आत्मा से युक्त दूसरो के अचेतन शरीर को भी दूसरो का आत्मा समझता है अर्थात् वहिरात्मा जैसे अपने शरीर को अपना आत्मा मानता है उसी प्रकार स्त्री पुत्रादिक के शरीर को स्त्री पुत्रादिक का आत्मा मानता है ।

ऐसा मानने से क्या होता है

स्वपराऽध्यवसायेन, देहेष्वविदितात्मनाम् ।
वर्त्तते विभ्रम पुसा, पुत्रभार्यादिगोचर ॥११॥

अन्वयार्थ—(अविदितात्मना पुसा देहेषु स्वपराध्यवसायेन पुत्रभार्यादिगोचर विभ्रम वर्त्तते) आत्मस्वरूप को नही जानने वाले पुरुषो को अपने और पर के शरीर मे ही अपनी और पर की आत्मा के निश्चय होने से पुत्र-स्त्री आदि के विषय मे विभ्रम होता है । अर्थात् मूढ जीव अपने शरीर के साथ स्त्री, पुत्रादि के शरीर के सम्बन्ध को ही अपनी आत्मा का सम्बन्ध समझता है और इसीलिये उनको अपना उपकारक समझता है तथा उनके सयोग मे सुखी व वियोग मे दु खी होता है ।

ऐसे विभ्रम से और क्या होता है—

अविद्यासज्ञितस्तस्मात्सस्कारो जायते दृढ़ ।
येन लोकोऽड्गमेव स्व पुनरप्यभिमन्यते ॥१२॥

अन्वयार्थ—(देहेषु आत्मधिया पुत्रभार्यादिकल्पना जाता) शरीर मे आत्मबुद्धि होने से पुत्र, स्त्री आदिक की कल्पना होती है (हा हत जगत् ताभि आत्मन सम्पनि मन्यते) खेद है कि इस प्रकार मोह से अपने असली आनन्द को भूलकर यह मूढ जीव स्त्री, पुत्रादिक के द्वारा ही अपने को समृद्धिशाली मानता है। अर्थात् जब तक इस ससारी जीव को मिथ्यात्व के उदय मे अपनी अनन्त चतुष्टयरूपी सम्पत्ति का ज्ञान नही होता तब तक यह स्त्री, पुत्र, धन, धान्यादिक बाह्य पदार्थों को ही अपने मान-कर उनमे रमा रहता है और मिथ्या अहकारवश सुख-दु ख मानता रहता है।

बहिरात्मा को अन्तरात्मा होने की शिक्षा—

मूल ससार दु खस्य, देह एवात्मधीस्तत ।
त्यक्त्वैना प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रिय ॥१५॥

अन्वयार्थ—(देहे आत्मधी एव ससार दु खस्य मूल) शरीर मे आत्मबुद्धि का होना ही ससार के दु खो का मूल कारण है (तत एना त्यक्त्वा बहि अव्यापृतेन्द्रिय अन्त प्रविशेत्) इसलिए शरीर मे आत्मबुद्धि को छोडकर और इन्द्रियों को बाह्य विषयों से रोककर अन्तरग मे प्रवेश करना चाहिए।

भावार्थ—जितने भी ससार के प्रपंच हैं वे सब इस शरीर के साथ हैं, जब तक जीव इस शरीर को अपना मानता रहेगा तब तक वह ससार के दु खदायी जंजाल से कभी नही छूट सकता। इसी कारण इस अपूर्व ग्रथ मे ग्रन्थकार ने समस्त दु खो की जड जो शरीर मे आत्मबुद्धि का होना है उसके छुडाने के लिए ही अधिक जोर दिया है।

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारै पतितो विषयेष्वहम् ।
तान् प्रपद्याहमिति मा पुरा वेद न तत्त्वत ॥१६॥

अन्वयार्थ—(अह पुरा मत्त च्युत्वा इन्द्रियद्वारै विषयेषु पतित) अन्तरात्मा अपनी पहली अवस्था को विचारता है कि मै अनादिकाल से अव तक व्यथ ही अपने स्वरूप से च्युत होकर इन्द्रियो के द्वारा विषयकूप मे पडा रहा। (तान् अह इति प्रपद्य तत्त्वत मा न वेद) और उन विपयो को ही अपना स्वरूप समझकर वास्तव मे अपनी आत्मा को आज तक मैंने नही पहचाना।

भावार्थ—जब तक जीव को अपनी असली रत्नत्रयरूप वा अनन्त चतुष्टयरूप सम्पत्ति का परिज्ञान नही होता, तब तक ही वह वाह्य विषयो को सुखदायक समझता है और जव इसे अपने असली सुधारस का कुछ भी स्वाद आ जाता है तब बाह्य विषय उसे विष सरीखे मालूम पडने लगते है। इसी कारण जो जीव प्रथम विषय भोगो को सुख रूप मानकर सेवन करता था वही अब पहले भोगे हुए विपयो पर भी पश्चात्ताप करने लगता है।

आत्मज्ञान का उपाय—

एव त्यक्त्वा बहिर्वाच त्यजेदन्तरशेषत ।
एष योग समासेन प्रदीप परमात्मन ॥१७॥

अन्वयार्थ—(एव वहिर्वाच त्यक्त्वा अन्त अशेषत त्यजेत्) आगे के श्लोको मे कही जाने वाली रीति के अनुसार वाह्य वचन को छोडकर अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन-धान्यादिक मेरे है इस प्रकार के मिथ्या प्रलाप को त्यागकर, अन्तरग वचन को भी समस्त रूप से छोडना चाहिए, अर्थात् मैं सुखी हूँ, दुखी हूँ, दूसरो का गुरु

हूँ, व शिष्य हूँ, इस प्रकार के आत्मविषयक विकल्प रूप अन्तरग वचन को भी छोडना चाहिए (एप समासेन योग परमात्मन प्रदीप) यह सक्षेप से कही हुई वाह्य व अभ्यन्तर के वचन के त्याग रूप, चित्त को विपयो से रोकने वाली समाधि ही वास्तव मे परमात्मस्वरूप को प्रकाशने के लिए दीपक के समान है।

वाह्य वचन को छोडने का उपाय—

यन्मया दृश्यते रूप, तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूप, तत केन व्रवीम्यहम् ॥१८॥

अन्वयार्थ—(मया यत् दृश्यते, तत् सर्वथा न जानाति) इन्द्रियो के द्वारा मुझे जो शारीरादिकरूपी पदार्थ दिखाई देते हैं, वे किसी भी पदार्थ को विलकुल नही जानते (जानत् रूप दृश्यते न) और जो पदार्थों को जानने वाला चेतनद्रव्य आत्मा है, वह मुझे इन्द्रियो से दिखाई नही देता (तत अह केन व्रवीमि) इस लिए मैं वातचीत करूँ तो किससे करूँ।

भावार्थ—जो अपने अभिप्राय को समझे उसीके साथ वात-चीत की जा सकती है, लकडो-पत्थर आदि जड पदार्थों से कोई वचनव्यवहार नही करता, इस वात को लेकर अन्तरात्मा अपने मन को समझाता है कि दूसरो का आत्मा तो मुझे दिखाई देता ही नही और शरीर दिखाई देता है। वह कुछ जानता नही, फिर मैं शरीरादिक जड पदार्थो से क्या वात करूँ ? अर्थात् मुझको चुपचाप रहना ही मुनासिव है। ग्रन्थकार ने इस श्लोक मे वचन-गुप्ति पालने का और वाह्य की झझटो से छूटने का एक उत्तम उपाय वताया है।

द्वारा ही अनुभव मे आने योग्य चेतन द्रव्य हूँ।

भावार्थ—जब तक यह आत्मा केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंत सुख, अनन्त वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र आदि अपने असली गुणो को विकसित न करके रागी-द्वेषी बना रहता है तब तक यह अशुद्ध कहलाता है और जब रागद्वेषादि विभावो को छोडकर अपने असली गुणो को प्राप्त कर लेता है तब सम्पूर्ण पदार्थों का केवल ज्ञाता मात्र रह जाता है। बाह्य पदार्थो का अपने रागादिक विकारो का कर्त्ता भोक्ता नही रहता, और यही जीव का असली स्वरूप है।

आत्मज्ञान होने से पूर्व की चेष्टा—

उत्पन्नपुरुषभ्रान्ते स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम्।
तद्वन्मे चेष्टित पूर्वं, देहादिष्वात्मविभ्रमात् ।।२१।।

अन्वयार्थ—(स्थाणौ उत्पन्नपुरुषभ्रान्ते यद्वत् विचेष्टितम्) स्थाणु मे पुरुष की भ्रान्ति हो जाने वाले मनुष्य की जैसी चेष्टा होती है (देहादिषु आत्मविभ्रमात् मे पूर्वं तद्वत् चेष्टितम्) शरीरादिक मे आत्मा का भ्रम रहने से, मेरी भी पहले शरीरादिक के विषय मे वैसी ही चेष्टा थी।

भावार्थ—जैसे कोई पुरुष भ्रम से वृक्ष के ठूंठ को मनुष्य मान कर उसके उपकारादि करने का विचार करने लगता है उसी प्रकार मैं भी भ्रम से, पहले शरीरादिक को आत्मा मानकर उनके उपकारादिक मे लगा हुआ था।

आत्मज्ञान होने के बाद की चेष्टा—

यथाऽसौ चेष्टते स्थाणौ, निवृत्ते पुरुषाग्रहे।
तथाचेष्टोऽस्मि देहादौ, विनिवृत्तात्मविभ्रम ।।२२।।

अन्वयार्थ—(असौ स्थाणौ पुरुषाग्रहे निवृत्ते यथा चेष्टते) यह मनुष्य स्थाणु मे पुरुष का भ्रम दूर होने पर जिस प्रकार उपकारादि के त्याग की चेष्टा करता है (देहादौ विनिवृत्तात्म-विभ्रम तथा चेष्ट अस्मि) शरीरादि मे आत्मभ्रम दूर होने पर मैं भी उसी प्रकार चेष्टा करने लगा हूँ।

भावार्थ—जब स्थाणु को स्थाणु पहचानकर उसमे से पुरुष विषयक अज्ञान दूर हो जाता है तब वह ज्ञानी मनुष्य उसके विषय मे उपकारादिक की कल्पना भी छोड देता है क्योकि उप-कार करने का विचार स्थाणु को पुरुष मानकर हुआ था। बाद मे निश्चय होने पर वह पुरुष निकला नही, तब उपकार किसका किया जाता, इसी तरह इस जीव को जब सम्यक्त्व हो जाने से शरीरादि मे आत्मभ्रम नही रहता तब वह हृदय से शरीर के सस्कारादि करने मे भी उपेक्षा करने लगता है।

शुद्ध आत्मा मे स्त्री आदि लिंग और एकत्व आदि सख्या नही है—

येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि।
सोऽह न तन्न सा नासौ, नैको न द्वौ वा बहु ॥२३॥

अन्वयार्थ—(येन आत्मा आत्मना आत्मनि एव आत्मना अह अनुभूये) जो मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा अपनी आत्मा मे ही अपने स्वसवेदन ज्ञान करके अपनी आत्मा को अनुभव करता हूँ (सोऽह, न तत्, न सा, न असौ, न एक, न द्वौ, वा न बहु) वह शुद्धस्वरूप मैं आत्मा न तो नपुसक हूँ, न स्त्री हूँ, न पुरुष हूँ, न एक रूप हूँ, न दो रूप हूँ, न बहु रूप हूँ।

भावार्थ—जीव मे स्त्री-पुरुष आदिक का व्यवहार केवल शरीर के सम्बन्ध को लेकर होता है और एकपने दोपने बहुपने

का व्यवहार गुण-गुणी की भेदाभेद विवक्षा को लेकर होता है। शुद्ध आत्म के अनुभव की दशा मे न शरीर की कल्पना है और न भेदाभेद की विवक्षा है वहाँ तो केवल यह आत्मा अपने ज्ञानानद रस का परम तृप्ति के साथ पान करता है, इसलिए वहाँ ये वाह्य कल्पना नही उठती ।

शुद्ध आत्मा का स्वरूप—

यदभावे सुषुप्तोऽह, यद्भावे व्युत्थित पुन ।
अनीन्द्रियमनिर्देश्य, तत्स्वसवेद्यमस्म्यहम् ॥२४॥

अन्वयार्थ—(यदभावे अह सुषुप्त, पुन यद्भावे व्युत्थित) जिस शुद्ध आत्मस्वरूप के प्राप्त न होने से मैं अब तक सोता रहा, और अब जिसके प्राप्त होने से जाग गया हूँ, (अह तत् अस्मि) मैं उसी शुद्ध स्वरूप वाला हूँ ('तच्च' अतींद्रिय, अनिर्देश्य, स्वसवेद्य) और वह शुद्ध स्वरूप न इन्द्रियो से जानने योग्य है और न वचन से कहने योग्य है किन्तु अपने-आप ही अनुभव मे आने योग्य है।

भावार्थ—जव तक इस जीव को अपने शुद्ध-स्वरूप की प्राप्ति नही होती तव तक यह एक प्रकार की अज्ञान-निद्रा मे पडा रहता है, और जव अज्ञान का नाश होकर शुद्ध स्वरूप की प्राति हो जाती है तभी यह वास्तव मे जागता हुआ कहलाता है।

शुद्धात्मस्वरूप का सवेदन करने वाले की, आत्मा मे रागादिक का अभाव हो जाने से, शत्रु-मित्र की कल्पना नही रहती, अव इसी वात को दिखाते हैं—

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मा प्रपश्यत ।
बोधात्मान तत कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रिय ॥२५॥

अन्वयार्थ—(तत्त्वत बोधात्मान मा प्रपश्यत "मम" अत्र एव रागाद्या क्षीयन्ते) वास्तव मे शुद्ध ज्ञान स्वरूप अपनी आत्मा का अनुभव करने लगने से इसी जन्म मे रागद्वेष आदि नष्ट हो जाते है। (तत न मे कश्चित् शत्रु न च प्रिय,) इसलिए न कोई मित्र मालूम पडता है और न कोई शत्रु दिखाई देता है।

भावार्थ—जब तक इस जीव को अपने चिदानन्दमय सुधारस का स्वाद नही आता तब तक यह बाह्य पदार्थो को अपनी रागद्वेषादि रूपी अग्नि के शमन करने का उपाय समझ, उनकी प्राप्ति के लिए भटकता फिरता रहता है, और अनुकूल सामग्री के बाधक-साधक जीवो को शत्रु-मित्र मानता रहता है, और जब इसको अपने स्वाभाविक सुधारस का स्वाद आने लगता है तब बाह्य पदार्थो मे व उनके साधक-बाधक जीवो मे इसकी उपेक्षा वृद्धि हो जाती है। इस कारण उस समय यह न तो किसी को मित्र समझता और न शत्रु मानता है, क्योकि मित्र की कल्पना राग-द्वेष के कारण होती है और उपेक्षा हो जाने से राग-द्वेष बाह्य पदार्थो मे उसके रहते नही।

यद्यपि ऐसी दशा मे अब किसी ने यह प्रश्न किया कि तुम्हारा
कोई शत्रु-मित्र नही रहता, किन्तु तुमको दूसरे पुरुष
तो शत्रु-मित्र मान सकते है ? इसी का उत्तर।
स्वात्मसवेदन वाला इस प्रकार देता है—

मामपश्यन्नय लोको, न मे शत्रुर्न च प्रिय ।
मा प्रपश्यन्नय लोको, न मे शत्रुर्न च प्रिय ॥२६॥

अन्वयार्थ—(मा अपश्यन् अय लोक न मे शत्रु न च प्रिय) मेरे स्वरूप को विना जाने यह जगत् मुझे शत्रु अथवा मित्र नही कह सकता (मा प्रपश्यन् अय लोक न मे शत्रु न च प्रिय) और मेरे स्वरूप को जानकर भी यह जगत् मुझे शत्रु वा मित्र नही मान सकता।

भावार्थ—स्वात्मसवेदी का यह कहना है कि परिचित व्यक्ति मे ही शत्रु वा मित्र की कल्पना हुआ करती है अपरिचित मे नही होती, इसलिए प्रथम तो ये ससारी जीव मेरे स्वरूप को जानते ही नही तव फिर मेरे में ये शत्रु-मित्र की कल्पना ही क्या कर सकें और कदाचित् यह माना जाय कि जानते हैं तो भी इनको शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव हो जाने से मेरे मे उपेक्षा बुद्धि उत्पन्न हो जायगी, तव भी ये मुझ मे शत्रु-मित्र की कल्पना नही कर सकेंगे।

वहिरात्मावस्था का त्याग और परमात्मपद की भावना का उपदेश—

त्यक्त्वैव वहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थित ।
भावयेत्परतात्मान सर्वसकल्पवर्जितम् ॥२७॥

अन्वयार्थ—(एव वहिरात्मान त्यक्त्वा अन्तरात्मव्यवस्थित॰ सर्वसकल्पवर्जित परमात्मान भावयेत्) इस प्रकार पूर्व लिखे क्रमानुसार वहिरात्मपने का त्याग करके अन्तरात्मा वनना चाहिए और सव प्रकार के सकल्प-विकल्पो से रहित परमात्म-पद की प्राप्ति के लिए भावना करनी चाहिए।

परमात्मपद की भावना का फल—

सोऽहमित्यात्तसस्कारस्तस्मिन् भावनया पुन ।
तत्रैव दृढसस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम् ॥२८॥

अन्वयार्थ—(पुन तस्मिन् भावनया स अह इति आत्त-सस्कार) बार-बार परमात्मपद की भावना करते रहने से 'वह परमात्मा मैं ही हूँ' इस प्रकार का दृढ सस्कार आत्मा मे उत्पन्न हो जाता है (तत्र एव दृटसस्कारात् हि आत्मनि स्थिति लभते) और परमात्मस्वरूप का दृढ सस्कार उत्पन्न होने मे यह जीव निश्चय से अपने शुद्ध स्वरूप मे स्थिर हो जाता है।

भावार्थ—उक्त प्रकार की दृढ भावना के अभ्यास से जब इस जीव की परमात्मपद के साथ एकत्वबुद्धि हो जाती है तब यह जीव अपने को केवलज्ञानमय व अनन्तसुख सम्पन्न समझने लगता है, और जब यह अपने को सर्वज्ञ व अनन्त सुखी मानने लगता है, तब छोटे-मोटे काल्पनिक सुख के कारणभूत बाह्य पदार्थों से इसका ममत्व स्वय छूट जाता है जिसके कारण इसके रागद्वेष मद होते-होते नष्ट हो जाते हैं और इसको परमात्म पद की प्राप्ति हो जाती है।

यहाँ किसी का प्रश्न है कि परमात्मा की भावना करना तो बडा कठिन है तब फिर जीवो की परमात्म-भावना मे प्रवृत्ति क्यो होती है ? इसका उत्तर रूप श्लोक कहते हैं—

मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद् भयास्पदम् ।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मन ॥२९॥

अन्वयार्थ—(मूढात्मा यत्र विश्वस्त तत अन्यद् भयास्पद न) यह मूढ जीव जिन, शरीर, स्त्री पुत्रादिक बाह्य पदार्थों का

विश्वास करता है, वे ही सबसे अधिक इसके लिए दु ख के कारण है इनके समान और कोई इसके लिए दु खदायी नही है (यत भीत तत अन्यद् अभयस्थान आत्मन न) और जिस परमात्म-स्वरूप के सवेदन करने मे यह जीव भय करता है, दु ख मानता है, उसके समान और कोई पदार्थ आत्मा के लिए सुखदायी नही है।

भावार्थ—जिस प्रकार सर्प से काटे हुए पुरुष को कडुवा नीम स्वादिष्ट मालूम देता है उसी तरह विषय-कषायो मे फँसे हुए पुरुष को शरीरादिक बाह्य पदार्थ मनोहर दिखाई देते है और जैसे ज्वर की बीमारी मे उत्तम मिठाई भी अरुचिकर मालूम होती है उसी तरह मूढ जीव को परमात्मा का अनुभव करने मे भी कष्ट मालूम होता है, किन्तु वास्तव मे देखा जाय तो परमात्मानुभव के समान सुखदायी और शरीरादिक के समान दु खदायी और कोई नही है। क्योकि यह जीव अनादिकाल से अब तक शरीरादिक को आत्मा मानकर तथा परमात्मा का स्वरूप न पहचानकर ही दु ख भोग रहा है।

परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय—

सर्वेन्द्रियाणि सयम्य, स्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षण पश्यतो भाति, तत्तत्त्व परमात्मन ॥३०॥

अन्वयार्थ—(सर्वेन्द्रियाणि सयम्य स्तिमितेन अन्तरात्मना क्षण पश्यतो यत् भाति तत् परमात्मन तत्त्वम्) सम्पूर्ण इन्द्रियो को अपने-अपने विषयो से रोककर स्थिर मन के द्वारा अनुभव करने से जो चिदानन्दमय आत्मस्वरूप प्रतिभास मे आता है, वही परमात्मा का असली स्वरूप है।

भावार्थ—परमात्मपद की प्राप्ति के लिए इन्द्रियो को वाह्य विषयो से रोकना चाहिए और मन को परमात्मस्वरूप की भावना मे तन्मय करना चाहिए।

परमात्मपद की प्राप्ति के लिए किसकी उपासना करनी चाहिए ?

य परात्मा स एवाह, योऽह स परमस्तत ।
अहमेव मयोपास्यो नान्य कश्चिदिति स्थिति ॥३१॥

अन्वयार्थ—(य परमात्मा, स एव अह, य अह स परम) जो परमात्मा है वही मैं हूँ, अथवा जो मैं हूँ, वही परमात्मा है (तत अह एव मया उपास्य , अन्य कश्चित न इति स्थिति) इसलिए मैं ही अपने द्वारा उपासना करने योग्य हूँ अन्य कोई मेरे द्वारा उपास्य नही है।

भावार्थ—सिद्ध परमेष्ठी के समान अपनी आत्मा को भी शुद्ध बुद्ध मानकर जब यह अन्तरात्मा का भेद, भावना करते-करते अपने शुद्ध स्वरूप मे लीन हो जाता है तभी परमात्म पद को प्राप्त कर सकता है इसलिए मुक्त-पद प्राप्त करने के लिए निश्चय नय से ध्यान करने योग्य या उपसना करने योग्य अपना शुद्धात्मा ही समझना चाहिए।

इसी वात को दिखाते हैं—

प्राच्याव्य विषयेभ्यो ह, मां मयैव मयि स्थितम् ।
बोधात्मान प्रपन्नोऽस्मि, परमानन्दनिर्वृतिम् ॥३२॥

अन्वयार्थ—(अह मयि स्थित बोधात्मन परमानन्दनिर्वृति मा विषयेभ्य प्रचाव्य मया एव प्रपन्नोऽस्मि) मैंने अपने मे ही विराजमान ज्ञान स्वरूप व परमानन्दसम्पन्न अपने आत्मा को

विषयो से छुडाकर अपने-आप ही प्राप्त किया है ।

भावार्थ—जिस परमात्म पद या मुक्त पद को यह जीव प्राप्त करना चाहता है वह परमात्मपद शक्ति रूप से इस आत्मा मे ही है । और उसके उद्योग से हो इसको प्राप्त हो सकता है । किसी ईश्वर आदि के पास वह सग्रह रूप से मौजूद नही है जिसको कि वह प्रसन्न होकर सेवको को दे सके । दूसरे परमात्माओ से हम केवल इस विषय मे यही लाभ उठा सकते हैं कि अरहत (जीवनमुक्त) अवस्था मे दिये हुए परमात्म पद के साधन भूत उनके उपदेश का मनन करें और जिस ध्यानमुद्रा से उन्होने परमात्म पद प्राप्त किया है उस दिव्य देह का या उसके प्रतिबिम्ब का चित्र अपने हृदय पर अकित करें और बाद मे अपनी भी उसी प्रकार की ध्यानमुद्रा बनाकर तथा उनके बताये हुए साधनो को उपयोग मे लाकर स्वय परमात्मपद प्राप्त करे ।

आत्मा को शरीर से भिन्न न जानने से हानि—

यो न वेत्ति पर देहादेवमात्मानमव्ययम् ।
लभते स न निर्वाण, तप्त्वाऽपि परम तप ॥३३॥

अन्वयार्थ—(एव य अव्यय आत्मान देहात् पर न वेत्ति, स परम तप तप्त्वा अपि निर्वाण न लभते) इस पूर्वोक्त कथनानुसार जो पुरुष अपने अविनश्वर आत्मा को शरीर से भिन्न नही मानता है वह उग्र तप को करके भी मुक्ति को नही प्राप्त कर सकता ।

भावार्थ—जो पुरुष आत्मा के असली स्वरूप को न जानकर इस नश्वर शरीर को ही आत्मा मान रहा है वह मुक्ति को भी

अन्य वाह्य पदार्थों की तरह विषय-सुख का साधन समझकर यदि उसकी प्राप्ति के लिए कठिन-से-कठिन तप भी करे तो क्या उसको मुक्ति मिल सकती है ?

यहाँ किसी की शका है कि मुक्ति के लिए तो वडे-वडे कठिन तप वताए है और कठिन तप करने से चित्त मे खेद होता है तव फिर तप करने से मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? उत्तर—

आत्म-देहान्तर-ज्ञान-जनिताल्हाद-निर्वृ त ।
तपसा दुष्कृत घोर, भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ।।३४।।

अन्वयार्थ— (आत्म देहान्तर ज्ञान जनिता अल्हादनिर्वृ त तपसा घोर दुष्कृत भुञ्जान अपि न खिद्यत) जो पुरुप आत्मा और शरीर के भेद ज्ञान से उत्पन्न हुए आनन्द मे मग्न हो रहा है वह तप के द्वारा उदय मे लाये हुए दु खदायी से दु खदायी कर्मो के फल को भोगते हुए भी दु खी नही होता है ।

भावार्थ—जिस समय इस जीव के अनुभव मे आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न दिखाई देने लगते हैं उस समय इसकी समस्त चिन्ताएँ दूर हो जाती है क्योकि जितने भर भी ससार के दु ख हैं वे सब शरीर को अपना जानने से ही होते है । भूख, प्यास, रोग, शोक व जीने-मरने के दु ख शत्रु, सर्प आदि का भय, गर्मी-सर्दी की वाधा, इन्द्रियो के विषय की चाह आदि की अनेक भयकर से भयकर आपत्तियाँ इस जीव को शरीर के सम्बन्ध से हो उठानी पडती हैं, इसलिए जिस समय इस शरीर को भी यह आत्मा भिन्न समझ लेता है उस समय इन सब आपत्तियो से छूट जाने के कारण इस जीव को एक अलौकिक आनन्द प्राप्त हो जाता है,

और अपनी इस परमसुखदायिनी भेद-भावना की दृढता के लिए उस दशा मे यह जीव कायक्लेशादि तप करके शरीर को जान-जान कर कृश करता है और सफलता पाने पर आनन्द मानता है, इसी कारण उसे तप करते हुए खेद नही होता।

इसी कथन की पुष्टि—

राग-द्वेषादि-कल्लोलैरलोल यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्व तत्तत्त्व नेतरो जन' ॥३५॥

अन्वयार्थ (रागद्वेषादिकल्लोलै यन्मनोजल अलोल स आत्मन. तत्त्व पश्यति, तत् तत्त्व इतर जन न) राग-द्वेष आदिक कल्लोलो के कारण जिसका मनरूपी जल चचल नही है वही पुरुष आत्मा के स्वरूप को जान सकता है, इस आत्म-स्वरूप को रागो द्वेषी पुरुष नही पहचान सकता।

भावार्थ—अनादि काल से यह जीव शरीरादि वाह्य पदार्थों मे आत्म-बुद्धि किये हुए है और ये वाह्य पदार्थ आत्मस्वरूप न होने के कारण कर्मानुसार वाह्य निमित्त को लेकर मिलते विछु-डते रहते हैं, इसलिए जिस वाह्य निमित्त से अनुकूल विषयो का प्राप्ति होती है उसमे राग और जिसके निमित्त से इष्ट वस्तु का विच्छेद व प्रतिकूल वस्तु का सम्वन्ध होता है उससे यह जीव द्वेष करता है और इस राग-द्वेष रूपी अग्नि से निरन्तर दग्ध रहकर अपने वास्तविक आत्मस्वरूप को नही पहचानता। इसलिये आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए राग-द्वेष का नाश करना सबसे आवश्यक है जो पुरुष इनका नाश कर देता है वह परमात्म पद पा सकता है जो नही करता वह नही पा सकता।

वह आत्मा का स्वरूप क्या है ?

अविक्षिप्त मनस्तत्त्व, विक्षिप्त भ्रान्तिरात्मन ।
धारेयत्तदविक्षिप्त, विक्षिप्त नाश्रयेत्तत ॥३६॥

अन्वयार्थ—(अविक्षिप्त मन आत्मन तत्त्व, विक्षिप्त भ्रान्ति) अविक्षिप्त अर्थात् रागादिरहित तथा देह व आत्मा के अभेद ज्ञान से शून्य शुद्ध स्वरूप मे निश्चल जो मन है वही आत्मा का स्वरूप है। इसके विरुद्ध जो विक्षिप्त अर्थात् रागादि परिणत वा देह आत्मा को एक जानने वाला भ्रात मन है वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नही है। (तत अविक्षिप्त तत् धारयेत् विक्षिप्त न आश्रयेत्) इसलिए अविक्षिप्त मन को धारण करना चाहिये और विक्षिप्त मन का आश्रय नही करना चाहिये।

भावार्थ—उपयोग रूप जो भाव मन है वह ज्ञानात्मक होने से आत्मा का हो स्वरूप है। जिस समय वह ज्ञानस्वरूप भाव-मन रागादि रहित होकर शरीरादि बाह्य पदार्थों को आत्मा से भिन्न अनुभव करने लगता है तथा आत्म-ध्यान मे तन्मय हो जाता है उस समय उस मन को आत्मा का निज स्वरूप समझना चाहिये और रागादि युक्त भावमन को ज्ञानस्वरूप होते हुये भी विकारी होने के कारण आत्मा का निज स्वरूप नही मानना चाहिये। इसलिए श्लोक के उत्तरार्द्ध मे कहा है कि मन मे से रागादि विक्षेपो को दूर करके उसको शुद्ध करना चाहिये।

मन मे विक्षेप क्यो होता है ?

अविद्याऽभ्यास सस्कारैरवश क्षिप्यते मन ।
तदेव ज्ञान-सस्कारै, स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥३७॥

अन्वयार्थ—(अविद्याभ्याससस्कारै मन अवश क्षिप्यते)

शरीरादिक को आत्मरूप जानने वाले अज्ञान के अभ्यास से उत्पन्न हुए मलिन सस्कारो के द्वारा मन, आत्मा के वश मे न रहकर विक्षेप को प्राप्त हो जाता है। (तदेव ज्ञानसस्कारै स्वत. तत्त्वे अवतिष्ठते) और वही मन भेदज्ञान से उत्पन्न हुए उत्तम सस्कारो के द्वारा स्वय ही आत्मस्वरूप मे स्थिर हो जाता है।

विक्षेप व अविक्षेप से क्या फल होता है ?

अपमानादयस्तस्य, विक्षेपो यस्य चेतस ।
नापमानादयस्तस्य, न क्षेपो यस्य चेतस ॥३८॥

अन्वयार्थ—(यस्य चेतस विक्षेप. तस्य अपमानादय) जिसके मन मे विक्षेप होता है उसीके चित्त मे मान-अपमान आदि की कल्पना होती है। (यस्य चेतस. क्षेप न तस्य अपमानादय न) और जिसके मन मे विक्षेप नही होता उसका अपमानादि की तरफ ध्यान भी नही जाता।

भावार्थ—जब तक हमारे मन मे मान-अपमान से हर्ष-विषाद होता है तब तक समझना चाहिए कि राग-द्वेषादि कषायो ने हमारे मन को विक्षिप्त कर रक्खा है, और जब मान-अपमान आदि की कल्पना हृदय से निकल जाती है उस समय मन को इन विक्षेपो से रहित मानना चाहिये।

अपमानादिक के दूर करने का उपाय--

यदा मोहात्प्रजायेते, राग-द्वेषौ तपस्विन ।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मान शाम्यत क्षणात् ॥३९॥

अन्वयार्थ—(यदा तपस्विन मोहात् रागद्वेषौ प्रजायेते, तदा एव स्वस्थ आत्मान भावयेत्, क्षणात् शाम्यत) जिस समय किसी तपस्वी मुनि के हृदय मे मोह के उदय से राग-द्वेष उत्पन्न हो जावें

उस समय उसको अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की भावना करनी चाहिए, इस प्रकार बार-बार आत्मस्वरूप की भावना करने से ही राग-द्वेष क्षण-भर मे शाँत हो जावेंगे ।

भावार्थ—ये राग, द्वेष, क्रोध मान, माया, लोभ आदिक एक प्रकार के मानसिक रोग हैं जो कि अज्ञान के द्वारा शरीर, स्त्री, पुत्रादिको को आत्मरूप मानने से तथा पञ्चेन्द्रियो के विषयो की प्राप्ति-अप्राप्ति से उत्पन्न होते हैं, शुद्ध आत्मस्वरूप का चिनवन करना ही इनको निर्मूल करने के लिए एक मात्र राम-वाण औषधि है । इन रोगो का निदान (मूल कारण) आत्मस्वरूप का अज्ञान है । इसलिए इस अज्ञान का नाश किये विना इन रोगो की जड नही जा सकती ।

राग-द्वेष का विषय व उनका विपक्ष दिखाते हैं—

यत्र काये मुने प्रेम, तत प्रच्याव्य देहिनम् ।
बुद्ध्य तदुत्तमे काये, योजयेत्प्रेम नश्यति ॥४०॥

अन्वयार्थ—(यत्र काये मुने प्रेम, बुद्ध्या तत देहिनं प्रच्याव्य तत् उत्तमे काये योजयेत्, प्रेम नश्यति) जिस शरीर मे तथा इन्द्रियो के विषयो मे मुनि का प्रेम है, अर्थात् आत्मबुद्धि हो रही है, विवेक ज्ञान के द्वारा उन शरीरादिको से आत्मा को पृथक् करके उस प्रेम को चिदानन्दमय उत्तम आत्मरूपी कार्य मे लगाने से वाह्य विषयो का प्रेम नष्ट हो जाता है ।

भावार्थ—जब तक इस जीव को अपने ज्ञानानन्दमय परम मनोहर उपवन मे क्रीडा करने का अवसर प्राप्त नही होता तब तक यह अत्यन्त घृणित स्त्री आदि के शरीर व अन्य पञ्चेन्द्रियो के विषयो मे ही लुभाया रहता है तथा अपने मल-मूत्र व अस्थि

पजर के पिड रूप शरीर को ही बार-बार देखकर प्रसन्न होता रहता है। यदि यह जीव किसी प्रकार अपने दर्शनमोहादिक का उपशम करके अपने शात सुधारस का एक वार भी स्वाद ले ले तो इसकी इन बाह्य विषयो मे कदापि रुचि न रहे और बहुत काल तक इसे जगत्-जाल मे फँसना न पडे।

इस भ्रमात्मक प्रेम के नाश होने से क्या होता है ?

आत्म-विभ्रमज दु खमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति।
नायतास्तत्र निर्वान्ति, कृत्वाऽपि परम तप ॥४१॥

अन्वयार्थ—(आत्मविभ्रमज दु ख आत्मज्ञानात् प्रशाम्यति) शरीरादिक मे आत्मा का भ्रम होने से जो दु ख होता है वह आत्मज्ञान होने से नष्ट हो जाता है। (तत्र अयता परम तप अपि कृत्वा न निर्वान्ति) इसलिए जो पुरुष आत्मस्वरूप के ज्ञान प्राप्त करने मे प्रयत्न नही करते वे दुर्धर तप को करके भी निर्वाण को प्राप्त नही कर सकते।

भावार्थ—मुक्तिप्राप्ति के लिए आत्म-ज्ञान की प्राप्ति पूर्वक किया हुआ तप ही कायकारी है। इसके विरुद्ध आत्मा व उसमे उत्पन्न हुए रागादिक विकारो के वास्तविक स्वरूप को बिना जाने जो पुरुष विवेकशून्य पचाग्नि आदिक तप करते हैं वे उसी प्रकार नासमझ समझे जाते हैं जिस प्रकार कि बुखार की बीमारी मे बवासीर की दवा खाने वाले बेवकूफ माने जाते है।

शरीरादिकको आत्मा मानने वाला तप करके क्या फल चाहता हैं ?

शुभ शरीर दिव्यांश्च, विषयानभिवाञ्छति।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे, तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ॥४२॥

अन्वयार्थ—(देहे उत्पन्नात्ममति शुभ शरीर च दिव्यान् विषयान् अभिवाञ्छति) शरीर मे जिसको आत्म-बुद्धि हो रही है वह पुरुष तप करके देवो के सुन्दर शरीर को व स्वर्गों के दिव्य विषयो को ही चाहता है, (तत्वज्ञानी तत च्युतिम्) और जो तत्त्वज्ञानी है वह ऐसे शरीर व विषयो से भी छूटना चाहता है।

भावार्थ—वहिरात्मा स्वर्गादिक के मिलने को ही परम-पद की प्राप्ति समझता है इसलिए केवल स्वर्गादिक की लालसा से ही पञ्चाग्नि आदि तप के द्वारा कायक्लेश करता है और जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जान जाता है उसको स्वर्गों के विषय-भोग भी अन्य विषयो की तरह दु खदायी मालूम पडते हैं। इसलिए वह सम्यग्दृष्टि पुरुष उन स्वर्गादिक के विषयो की इच्छा न करके परमानन्दमय मोक्षपद की इच्छा रखता है।

किसको कर्म-बन्ध होता है और किसको नही होता ?

परत्राहम्मति· स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसशयम्।
स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा, परस्मान्मुच्यते बुध· ॥४४॥

भावार्थ—(परत्र अहम्मति स्वस्मात् च्युत असशय वध्नाति) जिसको शरीरादिक पर पदार्थो मे आत्मबुद्धि हो रही है वह अपने स्वरूप से च्युत रहकर नि सन्देह ज्ञानावरणादिक कर्मो का बन्ध करता है (स्वस्मिन् अहम्मति· बुध परस्मात् च्युत्वा मुच्यते) और जिसको आत्मा मे ही आत्मबुद्धि उत्पन्न हो गई है वह ज्ञानी अन्तरात्मा शरीरादि के सम्बन्ध से छूट कर मुक्त हो जाता है।

वहिरात्मा किसको आत्मा मानता है व अन्तरात्मा किसको ?

दृश्यमान मिदं मूढस्त्रिलिंगमवबुध्यते ।
इदमित्यवबुद्धस्तु, निष्पन्न शब्दवर्जितम् ॥४४॥

अन्वयार्थ—(मूढ दृश्यमान त्रिलिंग इद अवबुध्यते) मूढ बहिरात्मा इस त्रिलिंगात्मक शरीर को ही आत्मा मानता है (अवबुद्ध शब्दवर्जित तु निष्पन्न इद इति अवबुध्यते) और ज्ञानी अन्तरात्मा नामादि विकल्पो से रहित अनादि सिद्ध आत्मा को ही आत्मा मानता है ।

यदि अन्तरात्मा आत्मा को ही आत्मा मानता है तो फिर वह अपने को बाह्य पदार्थो का कर्त्ता-भोक्ता क्यो मानता है ?

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्व, विविक्त भावयन्नपि ।
पूर्वविभ्रमसस्काराद्, भ्रान्ति भूयोऽपि गच्छति ॥४५॥

अन्वयार्थ—(आत्मन तत्त्व जानन् अपि, विविक्त भावयन् अपि) अविरत सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा, आत्मा के स्वरूप को जानते हुए भी तथा अन्य पदार्थो से भिन्न आत्मा की भावना करते हुए भी (पूर्वविभ्रमसस्कारात् भूय अपि भ्रांति गच्छति) पूर्व बहिरात्मावस्था के भ्रामक सस्कारो के कारण फिर भी भ्रान्ति को प्राप्त हो जाता है ।

भावार्थ—अविरत सम्यग्यदृष्टि अन्तरात्मा को यद्यपि विचार काल मे बाह्य पदार्थों के कर्त्ता-भोक्तापने का भ्रम नही होता तथापि अनादि काल से सतत अभ्यास मे आये हुए मिथ्यात्व जन्य सस्कारो के असर से साधारण अविचारित कार्यों मे उसको कदाचित् कर्त्ता-भोक्तापने का व्यामोह भी हो जाता है इसी कारण उसको ज्ञानचेतना (शुद्धात्मा का अनुभव) के सिवाय कर्मचेतना (कर्त्तापने का अनुभव) व कर्मफलचेतना (भोक्तापने का अनु-

भव) भी माना गया है।

इन भ्रामक संस्कारों के दूर करने का क्या उपाय है?

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ॥४६॥

अन्वयार्थ—(इदं दृश्यं अचेतनं, चेतनं अदृश्यं ततः क्व रुष्यामि तुष्यामि) अन्तरात्मा को निरन्तर यह विचारते रहना चाहिए कि यह जितना भी दृष्टिगोचर जगत् है, वह सब अचेतन है और जो चेतन है वह दृष्टिगोचर नहीं है। इसलिये मैं किस पर तो रोष (क्रोध) करूँ और किस पर सन्तोष करूँ? अर्थात् किसी से भी राग-द्वेष न करके (अतः अहं मध्यस्थः भवामि) मुझे मध्यस्थ रहना ही उचित है।

अध्यात्म) मूढ बहिरात्मा द्वेष के उदय से बाह्य अनिष्ट पदार्थों का त्याग करता है और राग के उदय से बाह्य इष्ट पदार्थों को ग्रहण करता है तथा आत्मास्वरूप का जानने वाला अन्तरात्मा अन्तरग राग-द्वेष आदिक का त्याग करता है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र आदि निज भावो को ग्रहण करता है। (निष्ठितात्मन अन्त बहि. न त्याग न उपादान) और अपने शुद्ध स्वरूप मे स्थित जो कृतकृत्य सर्वज्ञ परमात्मा है वह न बाह्य आभ्यन्तर किसी पदार्थ का त्याग करता है और न किसी का ग्रहण करता है।

भावार्थ—परमात्मा बाह्य पदार्थों का त्याग—ग्रहण तो पहले अन्तरात्म अवस्था मे ही छोड देता है और रागादिक अन्तरग कषायो का त्याग व केवल ज्ञानादिक निज गुणो के ग्रहण करने से ही वह परमात्म-पद प्राप्त करता है। इसलिए उसे अब कुछ त्यागना व ग्रहण करना बाकी नही रहता।

अन्तरात्मा को अन्तरग रागादिक का त्याग व सम्यग्ज्ञानादिक का ग्रहण किस प्रकार करना चाहिए ?

युञ्जीत मनसाऽऽत्मान, वाक्कायाभ्या वियोजयेत्।
मनसा व्यवहार तु, त्यजेद्वाक्काययोजितम् ॥४८॥

अन्वयार्थ—(आत्मान मनसा युञ्जीत, वाक्कायाभ्या वियोजयेत्) आत्मा को मानस ज्ञान के साथ तो तन्मय करना चाहिए और वचन व काय की क्रियाओ से रोकना चाहिए। (वाक्काययोजित व्यवहार तु मनसा त्यजेत्) और वचन व काय से किये हुए कार्य को भी मन से चितवन न करे।

भावार्थ—रागादिक के त्यागने व सम्यग्ज्ञानादिक के प्राप्त

करने के लिए अन्तरात्मा को वचन व काय की क्रियाये छोडते जाना चाहिये, और मन के द्वारा निरन्तर आत्म-चिन्तन करते रहना चाहिए। तथा वचन व काय की कोई आवश्यक क्रिया यदि करनी भी पडे तो उसमे मन नही लगाना चाहिये।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि स्त्री-पुत्रादिक के साथ तो काय की चेष्टा व वचनालाप करते समय सुख होता है तब फिर वचन-काय के व्यापार त्यागने से क्या लाभ है?

उत्तर —

जगद्देहात्मदृष्टीना, विश्वस्य रम्यमेव वा।
स्वात्मन्येनात्मदृष्टीना क्व विश्वास क्व वा रति ॥४९॥

अन्वयार्थ—(देहात्मदृष्टीना जगत् विश्वास्य रम्य एव वा) शरीर मे आत्मदृष्टि रखने वाले वहिरात्मा जीवो को यह स्त्री-पुत्र, धन-धान्यादिक का समूह रूप ससार विश्वास-पात्र व मनोहर मालूम देता है, (स्वात्मनि एव आत्मदृष्टीना क्व विश्वास क्व वा रति) किन्तु आत्मा मे ही आत्मदृष्टि रखने वाले ज्ञानी पुरुषो को इस प्रपचरूप ससार मे न विश्वास होता है और न रति ही होती है।

भावार्थ—जब तक इस जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होकर देह आदिक पर पदार्थो मे आत्मबुद्धि बनी रहती है तभी तक उसे बाह्य पदार्थ मनोहर मालूम देते हैं, अथवा उसका उनमे विश्वास रहता है और जब उस पुरुष को स्वपर का वास्तविक ज्ञान हो जाता है तब उसे निजानन्द को छोडकर बाह्य पदार्थो मे रमने की कदापि इच्छा नही होती, बाह्य विषय उसे एक नीरस व दुखद मालूम देने लगते हैं।

अन्तरात्मा को मन-वचन-काय की प्रवृत्ति कैसी रखनी चाहिये ?

आत्मज्ञानात्पर कार्यं, न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।
कुर्यादर्थवशात्किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ।।५०।।

अन्वयार्थ—(आत्मज्ञानात् पर कार्यबद्धौ चिरन धारयेत्) आत्मज्ञान के सिवाय अन्य कार्यों को बहुत काल तक बुद्धि मे धारण नही करना चाहिये। (अर्थवशात् किंचित वाक्कायाभ्या अतत्पर कुर्यात्) प्रयोजन वश यदि बाह्य कार्य करने हो तो उन्हे केवल वचन काय से करना चाहिये, उनमे मन से आसक्त नही होना चाहिये।

भावार्थ—मोक्ष के इच्छुक ज्ञानी पुरुषो को अपना मुख्य लक्ष्य तो आत्मोद्धार ही रखना चाहिए, मानसिक उपयोग को बाह्य कार्यों मे न लगाकर निरन्तर आत्महित के कार्यो मे ही लगाना चाहिये और अपने व पर के उपकारवश यदि कुछ बाह्य कार्य करने भी पडें तो उनमे विशेष उपयोग न लगाकर आवश्यक समझ, वचन व काय से कर देना चाहिये।

अन्तरात्मा बाह्य विषयो मे आसक्त न होकर आत्मस्वरूप के विषय मे क्या विचारता है ?

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रिय ।
अन्त पश्यामि सानन्द, तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ।।५१।।

अन्वयार्थ—(यत् इन्द्रियै पश्यामि तत् मे नास्ति) जिस शरीरादिक को मैं इन्द्रियो के द्वारा देखता हू। वह मेरा स्वरूप नही है। (नियतेन्द्रिय यत् उत्तम ज्योति सानद अन्त पश्यामि तत् अस्तु) इन्द्रियो को बाह्य विषयो से रोककर स्वसवेदन ज्ञान के द्वारा जिस परमानन्दम अतीन्द्रिय ज्ञान स्वरूप उत्तम ज्योति

होता है कि उसे वाह्य विषय, विष सरीखे मालूम देने लगते हैं। जैसे कोई पुरुष जन्म से ही अपने पास के खारे कुएँ का पानी पीता रहा हो और उसको कुछ दूर से निर्मल शीतल मिष्ट जल के कुए का पानी लाकर पीने को कहा जाय तो जाते समय उसे खेद होने के कारण अपना खारी कुआ ही अच्छा मालूम देगा। क्योकि पास के खारी कुएँ पर जाते समय मार्ग को धूप सहनी नही पडेगी। किन्तु जब वह दूर वाले कुए के निर्मल-शीतल-स्वादिष्ट जल को पीवेगा, तब उसे अपने पास का खारा कुआ बहुत बुरा मालूम देने लगेगा और मार्ग की थकावट को वह भूल जायगा।

आत्मस्वरूप की भावना किस प्रकार करनी चाहिये ?

तद् ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत् ।
येनाऽविद्यामय रूप, त्यक्त्वा विद्यामय व्रजेत् ॥५३॥

अन्वयार्थ—(तद्ब्रूयात्, तत् परान् पृच्छेत् तत् इच्छेत् तत्परो भवेत्) आत्मस्वरूप की ही बात दूसरो से कहनी चाहिये, आत्मस्वरूप को ही दूसरो से पूछना चाहिये, उसी आत्मस्वरूप की प्राप्ति की निरन्तर इच्छा रखनी चाहिये, और आत्म-स्वरूप के चितवन मे हो प्रति समय तन्मय रहना चाहिये। (येन अविद्या-मय रूप त्यक्त्वा विद्यामय व्रजेत्) जिससे कि अज्ञानमय अवस्था छूटकर ज्ञानमय आत्म-स्वरूप की प्राप्ति होवे।

भावार्थ—जैसे किसी धनिक वृद्ध पुरुष का अत्यन्त प्रेमपात्र एकमात्र विवाहित पुत्र बिना कहे परदेश चला जावे तो वह वृद्ध पुरुष जिससे बात करने का अवसर मिलता है तो अपने पुत्र की

ही वात करता है, किसी से कुछ पूछना है तो अपने पुत्र के आने की ही वात पूछता है। यदि किसी वस्तु की इच्छा करता है तो एक मात्र अपने पुत्र के आने की ही इच्छा करता है। यदि किसी का चितवन भी करता है तो उसी अपने प्रेमपात्र पुत्र का करता है। साराश यह है कि जैसे उस वृद्धपुरुष के चित्त से उसका पुत्र किसी क्षण भी पृथक् नही होता, उसी प्रकार आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए निरन्तर चेष्टा करनी चाहिए।

अज्ञानी और ज्ञानी आत्मा किसको मानते है ?

शरीरे वाचि चात्मान, सधत्ते वाक्शरीरयो ।
भ्रान्तोऽभ्रान्त पुनस्तत्त्व, पृथगेषा विवुध्यते ॥५४॥

अन्वयार्थ—(वाक्शरीरयो भ्रान्त शरीरे वाचि च आत्मान सधत्ते) वचन और शरीर के वास्तविक स्वरूप को न जानने वाला भ्रान्त वहिरात्मा शरीर और वचन को ही आत्मा जानता है। (अभ्रान्त पुन एषा तत्त्व पृथक् विवुध्यते) और ज्ञानी पुरुष शरीर, वचन व आत्मा के स्वरूप को पृथक्-पृथक् जानता है। शरीरादिक को आत्मा मानने वाला वहिरात्मा जिन व्रह्म विषयो मे आसक्त हो रहा है, वे इसके हितकारक नही हैं।

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु, यत् क्षेमकरमात्मन ।
तथापि रमते बालस्तत्रै वाज्ञानभावनात् ॥५५॥

अन्वयार्थ—(इन्द्रियार्थेषु तत् न अस्ति यत् आत्मन क्षेम-कर) पाँच इन्द्रियो के विषयो मे ऐसी कोई भी विशेषता नही है जिससे कि आत्मा का कुछ भला हो सके। (तथापि वाल अज्ञान-भावनात् तत्र एव रमते) खेद है! कि यह ससारी जीव तो भी अज्ञानवश उन विषयो मे ही रमता है।

भावार्थ—सब तरह से हानिकारक, अनित्य, ज्ञानी पुरुषो के द्वारा निषिद्ध, इन्द्रियो के विषयो मे भी जो इस जीव को आनन्द आने लगता है वह सब अज्ञान की ही महिमा है।

अनादिकालीन मिथ्यात्ववश जीव क्या करते हैं ?

चिर सुषुप्तास्तमसि, मूढात्मान· कुयोनिषु ।
अनात्मीयात्मभूतेषु, ममाहमिति जागृति ॥५६॥

अन्वयार्थ—(मूढात्मान तमसि कुयोनिषु चिर सुपुप्ता)ये मूढ ससारी जीव मिथ्यात्व के उदयवश अनादि काल से तो निगोदादिक कुयोनियो मे निवास कर रहे हैं, अर्थात् अचेत पडे सो रहे हैं (अनात्मीयात्मभृतेषु मम अह इति जागृति) यदि कदाचित् कर्मोदय से ये जीव मन सहित सज्ञो भी हो जाते है तो मानसिक सकल्प-विकल्पो के द्वारा प्रत्यक्ष भिन्न स्त्रीपुत्रादिक सम्बन्धो को भी अपने मानकर अनेक प्रकार के प्रपच मे पडे रहते हैं।

भावार्थ—निगोदादिक पर्यायो मे तो ज्ञान को अत्यन्त न्यूनता से यह जीव अनेक दु ख भोगता ही है किन्तु पहली पर्यायो से विशेष ज्ञानवान मनसहित पचेन्द्रिय होने पर भी रागद्वेष-मोहवश दूसरो को अपने मान दु खी ही रहता है।

वहिरात्मावस्था को त्याग कर अपने व पर के शरीर को इस प्रकार मानना चाहिए—

पश्येन्निरन्तर देहमात्मनोऽनात्मचेतसा ।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्वे व्यवस्थित ॥५७॥

अन्वयार्थ—(आत्मतत्त्वे व्यवस्थित आत्मन देह निरन्तर अनात्मचेतसा पश्येत्) आत्मस्वरूप मे स्थित होकर अपने शरीर

यह आशय है कि परोपदेश की प्रवृत्ति का होना ज्ञानी जीवो को शुभ कषाय रूप समझना चाहिए और अपनी शुद्ध परिणति को प्राप्त करने की योग्यता होते समय इसको भी बाधक ही समझना चाहिए। इस शुभ प्रवृत्ति के व्यामोह मे पडकर आत्म-हित को कदापि नही भूलना चाहिए।

इसी बात को दूसरी तरह से कहते हैं—

यद्बोधयितुमिच्छामि, तन्नाह यदह पुन ।
ग्राह्य तदपि नान्यस्य, तत्किमन्यस्य बोधये ॥५९॥

अन्वयार्थ—(यद्बोधयितु इच्छामि तत् न अह, पुन यत् अह तत् अपि अन्यस्य ग्राह्य तत् अन्यस्य कि बोधये) जिस देहादिक के स्वरूप को मैं ससारी जीवो को सुनाना चाहता हूँ अथवा वे सुनाना चाहते है वे देहादिक तो मेरे स्वरूप नही हैं और जो मेरा वास्तविक परमानन्दमय स्वरूप है उसको ये मूढ जीव जान नही सकते, इसलिए अब मैं इनको क्या समझाऊँ।

भावार्थ—ज्ञानी अतरात्मा परोपदेश करने की अनुचित लालसा व व्यग्रता से छूटने के लिए फिर अपनी आत्मा को समझाता है कि हे आत्मन् ! यदि तू इन ससारी जीवो को उप-देश भी देगा तो शरीरादिक जड पदार्थों के विषय मे अथवा ससार दशा के विषय मे दे सकता है। क्योकि आत्मा का शुद्ध स्वरूप तो एक प्रकार से वचन द्वारा कहा भी नही जा सकता और इन्द्रियो मे सुनकर ग्रहण भी नही किया जा सकता और ससार के दु खो का व शरीरादिक का अनुभव इन जीवो को स्वय ही हो रहा है फिर तू इनको उपदेश देने के झझट मे पडकर व उपदेश न मानने से खिन्न होकर व्यर्थ ही आकुलित क्यो

स्वबुद्ध्या यावग्गृह्णीयात्काय-वाक्-चेतसा त्रयम् ।
स सारस्तावदेतेषा, भेदाभ्यासे तु निर्वृति ॥६२॥

अन्वयार्थ—(काय-वाक्-चेतसा त्रय यावत् स्वबुद्ध्या गृह्णीयात् तावत्ससार)जब तक मन वचन काय का आत्मबुद्धि से ग्रहण किया जायगा, तब तक ही ससार समझना चाहिए । (एतेषा भेदाभ्यासे तु निर्वृति) और इन तीनो मन-वचन कायों का आत्मा से पूर्ण रूप मे भेद ज्ञान होने पर जीव की मुक्ति समझनी चाहिए ।

अर्थात् जब तक यह जीव मन-वचन-काय व इनके निमित्त से होने वाले रागादिक विकारो व अन्य वाह्य कार्यों को अपना समझता रहता है तब तक वह जीव ससारी है और जब मन, वचन, काय इन तीनो को तथा इनके निमित्त से उत्पन्न हुए राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारो को व स्त्रीपुत्रादिक वाह्य पदार्थों को यह जीव पूर्ण रूप से भिन्न समझ लेता है तब मुक्ति का पात्र बन जाता है ।

शरीर और आत्मा का भेदज्ञान होने पर यह जीव शरीर की दृढता आदि से आत्मा की दृढता आदिक नही मानता

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मान, न घन मन्यते तथा ।
घने स्वदेहेऽप्यात्मान, न खन मन्यते बुध ॥६३॥
जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मान, न जीर्णे मन्यते तथा ।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मान, न जीर्णे मन्यते बुध· ॥६४॥
रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मान, न रक्त मन्यते तथा ।
रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मान, न रक्त मन्यते बुध ॥६५॥
नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मान, न नष्ट मन्यते तथा ।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मान, न नष्ट मन्यते बुध. ॥६६॥

वहिरात्मा शरीर को आत्मा क्यो समझता है ?

प्रविशद्गलता व्यूहे, देहेऽणूना समाकृतौ ।
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते, तमात्मानमवुद्धय ॥६९॥

अन्वयार्थ— (अवुद्धय प्रविशद्गलता अणूना व्यूहे देहे समाकृतो स्थिति भ्रान्त्या त आत्मान प्रपद्यन्ते) मूढ वुद्धि वाले वहिरात्मा जीव निरतर प्रवेश करने वाले व जीर्ण होने वाले पुद्गल परमाणुओ के समूह रूप शरीर को आत्मा के समान आकार वाला देखकर तथा शरीर व आत्मा की एक क्षेत्र मे स्थिति होने के कारण उत्पन्न हुए भ्रम से शरीर को ही आत्मा जानते हैं।

भावार्थ—यदि इस शरी का असली स्वरूप विचारकर देखा जाय तो यह घृणित पुद्गल परमाणुओ के पुज के सिवाय और कुछ नही मालूम देता और जिन परमाणुओ से यह वना है वे भी इसमे शुरू से अन्त तक हमेशा नही रहते, किन्तु प्रतिक्षण शरीर मे नवीन-नवीन परमाणु आकर मिलते रहते है, और पुराने परमाणु निकलते रहते हैं। शरीर की यह दशा होते हुए भी आत्मा के समान आकार वाला होने से तथा वहुत काल से शरीर व आत्मा की एक क्षेत्र मे स्थिति रहने से मूढ वहिरात्मा इस शरीर को ही आत्मा मानता है।

शरीर के धर्मो से आत्मा को पृथक् मानने का उपदेश।

गौर स्थूल कृशो वाऽहमित्यङ्गे न विशेषयन्,
आत्मान धारयेन्नित्य, केवलज्ञप्तिविग्रहम् ॥७०॥

अन्वयार्थ—(अह गौर स्थूल वा कृश इति अगेन विशेषयन् केवलज्ञप्तिविग्रह आत्मान नित्य सधारयेत्) मैं गोरा हूँ, स्थूल हूँ अथवा कृश हूँ इस प्रकार शरीर के धर्मों से पथक् समझकर

आत्मा को नित्य ही केवल ज्ञानस्वरूप अथवा रागादिक से भिन्न एक-मात्र ज्ञानस्वरूप वा केवल ज्ञानरूपी शरीर विशिष्ट मानना चाहिए।

मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता कब आती है ?

मुक्तिरैकान्तिकी तस्य, चित्ते यस्याऽचला धृति.।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृति ॥७१॥

अन्वयार्थ—(यस्य चित्ते अचला धृति तस्य ऐकान्तिकी मुक्ति) जिस पुरुष के चित्त मे आत्मस्वरूप की निश्चल स्थिति है। उसको नियम से मुक्ति प्राप्त होती है। (यस्य अचला धृति नास्ति, तस्य ऐकान्तिकी मुक्तिर्नास्ति) और जिस पुरुष की आत्मस्वरूप मे स्थिति नही है उसको मुक्ति कदापि नही हो सकती।

भावार्थ—यह जीव आत्मस्वरूप मे निश्चल होकर तन्मय होने से ही मुक्ति का पात्र होता है। बिना आत्मस्थिरता के मुक्ति प्राप्त नही हो सकती।

मोक्ष के इच्छुक पुरुषो को क्या करना चाहिये ?

जनेभ्यो वाक् तत स्पन्दो, मनसश्चित्त-विभ्रमा·।
भवन्ति तस्मात्ससर्गं, जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥७२॥

अन्वयार्थ—(जनेभ्य वाक्, तत मानस स्पन्द) तस्मात् चित्तविभ्रमा भवन्ति, तत योगी जनै ससर्गं त्यजेत् जगत् के जीवो से मिलने पर वचन की प्रवृत्ति होती है, वचन की प्रवृत्ति होने से मन मे व्यग्रता होती है और व्यग्रता होने से मन विक्षिप्त सरीखा हो जाता है, इसलिये आत्महित या मोक्षपद के इच्छुक योगी पुरुषो को व्यवहारी जनो का ससर्ग सर्वथा छोडना

उचित है।

ग्राम व वन की कल्पना किसके हृदय में होती है?

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा, निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु, विविक्तात्मैव निश्चलः ॥७३॥

अन्वयार्थ—(ग्रामः अरण्यं इति द्वेधा निवासः अनात्मदर्शिनाम्) यह ग्राम है अथवा यह वन है, इस प्रकार दो तरह के स्थान की कल्पना अनात्मदर्शी बहिरात्मा जीवों को ही होती है। (दृष्टात्मनां निवासः तु विविक्तः निश्चलः आत्मा एव) और आत्मस्वरूप को जानने वाले ज्ञानी पुरुषों का निवास-स्थान, वास्तव में उनका रागादि रहित निश्चल आत्मा ही होता है। क्योंकि आत्मज्ञानी पुरुष निरन्तर अपने आत्मगुणों के अनुभव में ही रमे रहते हैं इसलिये उनका ध्यान बाह्य ग्राम, वन आदि स्थानों की तरफ नहीं जाता, परमानन्दमय निज आत्मा को ही वे एक प्रकार का मनोहर उपवन समझते हैं।

शरीर को आत्मा व आत्मा को आत्मा मानने से क्या होता है?

देहान्तरगतेर्बीजं, देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥७४॥

अन्वयार्थ—(अस्मिन् देहे आत्मभावना देहान्तरगतेः बीजं) इस शरीर में आत्मा की भावना करना दूसरे शरीर की प्राप्ति का कारण है। (आत्मनि एव आत्मभावना विदेहनिष्पत्तेः बीजं) और आत्मा में ही आत्मा की भावना करना मोक्ष प्राप्ति का कारण है।

भावार्थ—जो पुरुष शरीर को ही निश्चय से आत्मा समझता है वह निरन्तर नवीन शरीर धारण करता रहता है और

जो पुरुष आत्मा को ही निरन्तर आत्मरूप से चिन्तवन करता है, वह मुक्तरूप शुद्ध आत्मा हो जाता है।

आत्मा का गुरु कौन है ?

नयत्यात्मानमात्मैव, जन्म निर्वाणमेव च।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थत. ॥७५॥

अन्वयार्थ—(आत्मा एव आत्मान जन्म निर्वाण च नयति) आत्मा ही आत्मा को जन्मरूपी ससार में रुलाता है और स्वय ही ससार से पार करके मोक्ष पद प्राप्त कराता है। (तस्मात् आत्मन गुरु आत्म. परमार्थेन अन्य न अस्ति) इसलिये आत्मा का गुरु आत्मा ही है, अन्य कोई वास्तव मे गुरु नही है।

भावार्थ—आत्म-हित के उपदेशक आचार्यादिक गुरुओ का सच्चा उपदेश सुनकर भी जब तक यह जीव विषय-कषायादिक का त्याग नही करता है तब तक बराबर ससार-सागर मे रुलता रहता है और कभी-कभी आचार्यों के उपदेश सुने बिना भी विषय-कषायादिक त्याग करके मोक्षपद प्राप्त कर लेता है। इसलिये वास्तव मे आत्मा को स्वय अपना गुरु अपने को ही मानना चाहिए।

बहिरात्मा को मरने से भय क्यो लगता है ?

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मन ।
मित्रादिभिर्वियोग च, बिभेति मरणाद्भृशम् ॥७६॥

अन्वयार्थ—(देहादौ दृढात्मबुद्धि आत्मन· नाश मित्रादिभि: वियोग च उत्पश्यन् मरणात् भृश बिभेति) शरीरादिक मे जिसकी दृढ आत्मबुद्धि हो रही है वह पुरुष शरीर छूटते समय आत्मा का नाश मानकर तथा मित्रादिको से वियोग हुआ जानकर, मरण

और जो पुरुष व्यावहारिक कार्यों मे तन्मय रहता है वह आत्मानुभव से कोसो दूर रहता है।

भावार्थ—जीवो के चित्त की वृत्ति एक समय मे विरुद्ध दो कार्यों में नही लग सकती, जिस समय मन विषयो मे फँसा रहेगा उस समय आत्म-हित के कार्य उसे अच्छे नही लगेगे और जिस समय आत्म-हित की तरफ मन का झुकाव होगा उस समय उसे विषय-कषाय विष सरीखे लगने लगेगे।

जीव को मुक्ति कब प्राप्त होती है ?

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा, दृष्ट्वा देहादिक बहि ।
तयोरन्तर-विज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत् ॥७९॥

अन्वयार्थ—(आत्मान अन्तरे दृष्ट्वा, देहादिक बहि दृट्वा तयो अन्तरविज्ञानात् अभ्यासात् अच्युत भवेत्) आत्मा को अन्तरग मे देखकर और शरीरादिक को बाह्य जानकर शरीर और आत्मा को भिन्नता का दृढ ज्ञानाभ्यास करते-करते जीव मुक्त हो जाता है।

भावार्थ—जब इस जीव को आत्मा और शरीर का भेद स्पष्ट मालूम होने लगता है तब यह शारीरिक क्रियाओ से उपेक्षा करने लगता है और सम्यक् ज्ञानादिक आत्मिक गुणो की प्राप्ति व वृद्धि के लिये प्रयत्न करने लगता है। इसी तरह करते-करते जब सम्पूर्ण देहादि सम्बन्धी क्रियाओ को छोडकर अपने सर्व आत्मिक गुणो का पूर्ण विकास कर लेता है तब यह जीव मुक्त हो जाता है।

ज्ञानी पुरुष जगत् को कैसा जानते हैं ?

हो जाता है।

शरीर व आत्मा की भेद-भावना के बिना मुक्ति नही होती—

श्रृण्वन्नप्यन्यत· काम, वदन्नपि कलेवरात्।
नात्मान भावयेद् भिन्न, यावत्तावन्न मोक्षभाक् ॥८१॥

अन्वयार्थ—(कलेवराद् भिन्न आत्मान, अन्यतः श्रृण्वन् अपि, वदन् अपि, यावत् भिन्न न भावयेत् तावत् मोक्षभाक् न) 'शरीर से आत्मा भिन्न है', इस बात को उपाध्याय आदिक गुरुओ से सुनकर भी तथा इसी बात को दूसरो से बार-बार कहते रहने पर भी जब तक भेदज्ञान की दृढ-भावना नही की जाती तब तक मुक्ति नहीं हो सकती।

भावार्थ—आत्मा और शरीर के भेद की कथा को तोते की तरह कहने-सुनने मात्र से विशेष फल की प्राप्ति नही हो सकती, किन्तु सुकौशल मुनि की तरह इस प्रकार की भेद-भावना होनी चाहिये जिससे कि व्याघ्रादि क्रूर जीवो के द्वारा शरीर के भक्षण किए जाने पर भी आत्मा मे आकुलता न होवे। अथवा पाण्डवों की तरह शरीर के जलते रहने पर भी राग उत्पन्न न होवे। इस प्रकार की दृढ भेदभावना से ही वास्तव मे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आत्मा को शरीर से भिन्न मानना कब सार्थक होता है ?

तथैव भावयेद् देहाद्व्यावृत्यामानमात्मनि।
यथा न पुनरात्मान, देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ॥८२॥

अन्वयार्थ—(देहात् व्यावृत्य आत्मान आत्मनि तथैव भावयेत् यथा पुन स्वप्नेऽपि देहे आत्मान न योजयेत्) शरीर से भिन्न मानकर आत्मा की आत्मा मे इस प्रकार दृढ़ भावना

बिना ही शुभोपयोग को छोड दोगे तो इन दोनो उपयोगो के न रहने से चित्तवृत्ति पापकार्यो की तरफ झुक जायगी, जिससे आत्मा को और भी अधिक दु ख सहने पडेंगे। इसलिये शुद्धोपयोग के अभाव मे अहिंसादिक की भावना रूप शुभोपयोग को ही परपरा मुक्ति का कारण समझकर उनका अवलम्बन लेना चाहिये।

पाप-पुण्य के त्याग करने का क्रम—

अव्रतानि परित्यज्य, व्रतेषु परिनिष्ठित ।
त्यजेत्तान्यपि सम्प्राप्य, परम पदमात्मनः ॥८४॥

अन्वयार्थ—(अव्रतानि परित्यज्य, व्रतेषु परिनिष्ठित आत्मन परम पद सम्प्राप्य तानि अपि त्यजेत्) हिंसादिक अव्रतो को छोडकर अहिंसादिक व्रतो मे स्थिर होना चाहिये अर्थात् उनका पालन करना चाहिये। पश्चात् राग-द्वेष रहित साक्षात् वीतराग पद की प्राप्ति हो जाने पर व्रतो को भी छोडना चाहिये। अर्थात् वीतराग दशा प्राप्त होने से पहले अहिंसादिक व्रतो को नही छोडना चाहिये।

दु ख का मूल कारण व मोक्ष का बाधक कौन है ?

यदन्तर्जल्पसम्पृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मन ।
मूलं दु खस्य तन्नाशे, शिष्टमिष्ट पर पदम् ॥८५॥

अन्वयार्थ—(यत् अन्तर्जल्पसम्पृक्त उत्प्रेक्षाजाल आत्मन. दु खस्य मूल, तन्नाशे इष्ट पर पद शिष्ट) अतरग वचनव्यापार से सहित जो अनेक प्रकार का कल्पनाजाल है वही वास्तव मे आत्मा के लिये दु ख का मूल है। इस सकल्प-विकल्प रूप कल्पनाजाल के नाश होने पर ही वास्तव मे परम पद की प्राप्ति हो

सकती है।

भावार्थ—परमानन्दमय चैतन्य चमत्कार स्वरूप निज आत्म द्रव्य को न पहचानकर जो यह जीव व्यर्थ ही अपने आत्मा को सुखी दुखी राजा, रंक, सबल, निर्बल मानता रहता है तथा इन्हीं बातों को लेकर जो और भी अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प करता है यह सब प्रपंच ही इस जीव के संसार में भटकने का मूल कारण है और इस प्रपंच को छोड़ने से ही इसको मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

कल्पना-जाल के नाश करने का क्रम—

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः।
परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत् ॥८६॥

अन्वयार्थ—(अव्रती व्रत आदाय व्रती ज्ञानपरायण, परात्मज्ञानसम्पन्न स्वय एव पर. भवेत्) अव्रती अवस्था में उत्पन्न होने वाली कल्पनाओं को तो व्रत ग्रहण करके नाश करे और व्रती अवस्था में होने वाली कल्पनाओं को ज्ञान-भावना में तन्मय होकर नाश करे, पश्चात् अर्हत अवस्था में सर्वज्ञ पद प्राप्त करके क्रम से मुक्ति-मन्दिर में अनन्त काल तक निवास करे।

भावार्थ—गृहस्थ अवस्था में स्त्री-पुत्र, धन-धान्यादिक के प्रपंच में पड़े रहने से जो अनेक प्रकार के इष्टानिष्ट संकल्प-विकल्प उठते रहते हैं। साधु पद ग्रहण करके पहले तो इन गृहस्थ सम्बन्धी विकल्पों का त्याग करना चाहिये पश्चात् साधु अवस्था में भी पीछी-कमण्डलु, शिष्य-प्रशिष्य आदि के निमित्त से जो विकल्प उठते हैं उनको निरन्तर ज्ञानाभ्यास वा आत्मभावना में लीन होकर छोड़ना चाहिए। इसी प्रकार क्रम से शुक्लध्यान

द्वारा अर्हंत पद प्राप्त कर सिद्ध पद प्राप्त करना चाहिये।

साधुवेष धारण करने मात्र से मुक्ति नही हो सकती।

लिङ्गं देहाश्रित दृष्ट, देह एवात्मनो भव.।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताग्रहाः ॥८७॥

अन्वयार्थ—(लिंग देहाश्रित दृष्ट, देह एव आत्मन भव, तस्मात् ये लिंगकृताग्रहा ते भवात् न मुच्यन्ते) जटा धारण करना अथवा नग्न रहना आदिक जो भेष हैं वे सब शरीर के आश्रित हैं और शरीर के निमित्त से ही आत्मा ससारी कहलाता है। इसलिए केवल भेष मात्र से ही मुक्ति प्राप्त करने का आग्रह करने वाले पुरुष ससार से मुक्त नही हो सकते।

भावार्थ—बहुत से अज्ञानी साधु दुराग्रहवश सम्यग्ज्ञान, ध्यान आदि के बिना केवल वेश मात्र को ही मुक्ति का कारण मान बैठते हैं, ऐसे पुरुषो को समझाने के लिए आचार्य महाराज कहते हैं, कि केवल वेश मात्र से मोक्ष-प्राप्ति का आग्रह करना मूर्खता है, साधु-वेश धारण करके उस पद के योग्य ज्ञान-ध्यान आदि के करने से ही वास्तव मे आत्म-हित हो सकता है। यहा पर एक बात यह और जानने की है जिस प्रकार बहुत से अज्ञानी साधुओ को वेश मात्र का पक्ष होता है। ऐसे ही बहुत से दुर्विदग्ध पुरुषो का ज्ञान मात्र का पक्ष भी होता है। अर्थात् जैसे कोई-कोई पुरुष ज्ञान के बिना साधु-वेश मात्र से मुक्ति-मन्दिर मे प्रवेश करने का प्रयास करते हैं वैसे ही बहुत से पुरुष साधु-वेश के बिना ज्ञानमात्र से ही मोक्ष-प्राप्ति का स्वप्न देखा करते हैं, यह भी ऐसे पुरुषो का केवल भ्रममात्र है, जिस प्रकार सम्यग्ज्ञान, मोक्ष-प्राप्ति मे साधक है उसी प्रकार द्रव्य चारित्र भी साधक है केवल एकात

मानने का ग्रन्थकार ने निषेध किया है इसी भाव का एक यह काव्य श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने समयसार के कलशों में लिखा है—

> मग्ना कर्मनयावलम्बनपरा, ज्ञान न जानन्ति ये
> मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमा ॥
> विश्वस्योपरि ते तरन्ति सतत, ज्ञान भवन्त स्वय
> ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वश, यान्ति प्रमादस्य च ॥१॥

अर्थात्—जो पुरुष ज्ञानस्वरूप आत्मा को न जानकर केवल बाह्य क्रियाकाण्ड को मुक्ति का कारण जान उसमें ही तन्मय रहते हैं वे भी ससार में डूबते हैं और जो शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति हुए बिना ही मिथ्या ज्ञान के कुतर्कों मे पडकर व्यवहार चारित्र को सर्वथा छोड देते हैं वे भी ससार मे ही डूबते हैं। किन्तु जो पुरुष शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो जाने पर उसमें तन्मय होते हैं अर्थात् जिनकी निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र मय एक अभेद रूप परिणति हो जाती है वे ससार से पार होते हैं। ऐसी अवस्था होने पर व्यवहार चारित्र का छूटना कार्यकारी है और जब तक यह परम शान्ति दशा प्राप्त न हो तब तक प्रमादरहित होकर व्यवहार रत्नत्रय का धारण करना अत्यन्त आवश्यक है।

उत्तम जाति मे उत्पन्न होने मात्र से मुक्ति नही हो सकती—

> जातिर्देहाश्रिता दृष्टा, देह एवाऽऽत्मनो भव ।
> न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहा ॥८८॥

अन्वयार्थ—(जाति देहाश्रिता दृष्टा, देह एव आत्मनः भव तस्मात् ये जातिकृताग्रहा, ते भवात् न मुच्यन्ते) ब्राह्मण आदि

जातिया शरीर के आश्रित है और शरीर ही आत्मा के लिए ससार है इसलिए जिनको जातीय पक्ष का अनुचित दुराग्रह होता है वे ससार से मुक्त नही हो सकते। यहा पर भी यह वात विशेष जानने की है कि यद्यपि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन उत्तम जातियो मे उत्पन्न हुए पुरुषों को ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है अन्य को नही हो सकती तथापि मुक्ति-प्राप्ति के ज्ञान-ध्यानादि साधन किए बिना केवल उत्तम जाति मे उत्पन्न होने मात्र से मुक्ति मानना भ्रम है। यहा भी आचार्य महाराज ने 'वर्णाना ब्राह्मणो गुरु' 'काशीमरणान्मुक्ति' इस प्रकार मिथ्या एकान्त छुडाने के लिए यह श्लोक लिखा है।

मिथ्या शास्त्रो का दुराग्रह करने से भी परमपद की प्राप्ति नही होती।

जाति-लिंग-विकल्पेन, येषा च समयाग्रह।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव, परम पदमात्मन ॥८९॥

अन्वयार्थ—(येषा जातिलिंगविकल्पेन समयाग्रह तेऽपि आत्मन परम पद न प्राप्नुवन्त्येव) जिन पुरुषो को पूर्व मे कहे हुए जाति और लिंग के विषय मे शास्त्र-प्रतिपादित होने का आग्रह है अर्थात् ब्राह्मणत्व आदि जाति मे उत्पन्न होने मात्र से अथवा किसी एक वेश मात्र के धारण करने से ही मुक्ति हो जाती है इस प्रकार के कथन वाले शास्त्रो को प्रमाण मानकर जो पुरुष अनेक प्रकार के दुराग्रह करते रहते हैं वे भी आत्मा की शुद्ध अवस्था को नही प्राप्त हो सकते।

बिना मोह मद हुए वाह्य चारित्र कार्यकारी नही—

यत्यागाय निवर्तन्ते, भोगेभ्यो यदवाप्तये ।
प्रीति तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिन ॥९०॥

अन्वयार्थ—(यत्यागाय यदवाप्तये भोगेभ्य निवर्त्तन्ते, मोहिन तत्रैव प्रीति अन्यत्र द्वेष कुर्वन्ति) शरीरादिक पर पदार्थों से ममत्व दूर करने के लिये तथा वीतराग अवस्था की प्राप्ति के लिये वहुत से पुरुष विषय-भोगो को छोडकर साधु हो जाने पर भी पश्चात् मोह के उदय से शरीरादिक मे प्रीति व वीतरागता के साधनो से द्वेष करने लगते हैं ।

भावार्थ—अतरग रागद्वेष-मोह के शात हुए विना यदि कोई पुरुष किसी उत्तेजना आदि के कारण विषय-भोगो को छोडकर मुनिव्रत भी धारण कर लेता है तो शीघ्र ही फिर पतित हो जाता है । ऊपर से मुनि सरीखा वेश रखकर भी वह शरीर मे अथवा भोजनादिक मे प्रीति रखने लगता है और जिस वीतराग दशा की प्राप्ति के उद्देश्य से उसने मुनिव्रत लिये थे उससे या उसके साधन भूत ज्ञान, ध्यान आदि से पराङ्मुख रहने लगता है, इस प्रकार मोह के उदय से क्रोधादि अतरग परिग्रहो को न छोड सकने के कारण वह दु खी ही रहता है । इसलिये आत्म-हित के इच्छुक पुरुषो को पहले मोह मद करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये और जितना-जितना मोह मद होता जाय, उतना-उतना व्यवहारचारित्र वढाते जाना चाहिये ।

शरीर मे आत्मा के भ्रम होने का दृष्टात—

अनन्तरज्ञ सन्धत्ते, दृष्टि पगोर्यथाऽन्धके ।
सयोगाद् दृष्टिमगेऽपि, सधत्ते तद्वदात्मन ॥९१॥

अन्वयार्थ—(अनन्तरज्ञ सयोगात् यथा पगो दृष्टि अन्धके

सधत्ते, तद्वत् आत्मन दृष्टि अगे अपि सधत्ते) लगडे और अधे के भेद को न जानने वाला पुरुष जैसे लगडे की दृष्टि को अधे मे आरोपित करता है वैसे ही आत्मा और शरीर को न जानने वाला पुरुष आत्मा की दृष्टि को शरीर मे आरोपित करता है।

भावार्थ—जैसे अधे के कधे पर लगडा चढा हुआ जा रहा हो अर्थात् अधे को लगडा रास्ता बताता जा रहा हो और अधा अपने पैरो से चलता जा रहा हो, ऐसी दशा मे कोई पुरुष अपने नेत्रो की मद ज्योति से यदि लगडे को न देखकर यह समझे कि यह चलने वाला पुरुष ही अपनी आखो से देखकर जा रहा है तो यह उस मद ज्योति वाले का जानना जिस प्रकार ठीक नही है उसी प्रकार आत्मा व शरीर का सयोग होने से जो पुरुष शरीर को ही आत्मा समझता है उसका भी वह ज्ञान ठीक नही है।

अतरात्मा को शरीर मे आत्मा का भ्रम नही होता—

दृष्टभेदो यथा दृष्टिं, पङ्गोरन्धेन योजयेत् ।
तथा न योजयेद् देहे, दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः ।।९२।।

अन्वयार्थ—(दृष्टभेद यथा पगो दृष्टि अधे न योजयेत् तथा दृष्टात्मा आत्मन दृष्टि देहे न योजयेत्) लगडे व अधे के भेद को जानने वाला जैसे लगडे को अधा नही समझता है उसी प्रकार आत्मा व शरीर का भेद जानने वाला पुरुष आत्मा को शरीर नही समझता है। अर्थात् जिस पुरुष को अधे व लगडे के भेद की तरह शरीर व आत्मा का भेद मालूम पड जाता है वह शरीर को आत्मा न समझकर ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणो के पुञ्ज को आत्मा समझता है।

सुप्त व उन्मत्तादि अवस्था भ्रम रूप नही होती। क्योकि जो पुरुष आत्मरस में भीगे हुए हैं अथवा यो कहिए कि जिनको परमानन्दमय आत्मिक सुधारस के पान करने का अभ्यास पड गया है। उनको जब इन्द्रियो की शिथिलता से निद्रा आ जाती है अथवा खान-पान की प्रतिकूलता व रोग आदि से कदाचित् मूर्च्छा भी आ जाती है तो भी उनकी आत्मानुभव की वासना नही छूटती। इसलिये ऐसे आत्मदर्शी पुरुषो की सुप्त व उन्मत्त अवस्था भी भ्रम रूप नही होती, यदि वे सुप्त व उन्मत्त अवस्थायें भ्रम रूप होती हैं तो शरीरादिक बाह्य पदार्थों की समस्त अवस्थाओ को आत्मरूप समझने वाले बहिरात्मा पुरुषो की ही होती हैं।

कर्म-बन्ध किससे छूटता है और किससे नही छूटता ?

विदिताऽशेषशास्त्रोपि, न जाग्रदपि मुच्यते।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ॥९४॥

अन्वयार्थ—(देहात्मदृष्टि विदिताशेषशास्त्र अपि, जाग्रत् अपि न मुच्यते, ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्त अपि मुच्यते) जिस पुरुष की शरीरादिक बाह्य पदार्थों मे आत्मदृष्टि है वह सम्पूर्ण शास्त्रो को जानता हुआ तथा जागता हुआ भी कर्म-बन्ध से नही छूटता और जो पुरुष आत्मज्ञानी है उसके सोते हुए भी तथा मूर्छित अवस्था मे भी कर्म-निर्जरा होती रहती है।

भावार्थ—शरीर व आत्मा के भेद-ज्ञान बिना कोरा तोते की तरह रट कर प्राप्त किया शास्त्रज्ञान आत्म-हित का साधक नही है और आत्म-ज्ञान होने पर सुप्त व मूर्च्छित अवस्था भी आत्मा की हानि करने मे समर्थ नही है।

मन किस वस्तु मे लीन होता है ?

यत्रवाऽऽहितधी पुस , श्रद्धा तत्रैव जायते ।
यत्रैव जायते श्रद्धा, चित्त तत्रैव लीयते ॥९५॥

अन्वयार्थ—(पुस यत्र एव आहितधी तत्र एव श्रद्धा जायते, यत्र एव श्रद्धा जायते, तत्र एव चित्त लीयते) पुरुष की जिस पदार्थ मे बुद्धि लग जाती है उसीमे उसको श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है और जिस पदार्थ में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है उसी-मे उसका मन रम जाता है ।

भवार्थ—जिस पुरुप को जो वस्तु प्रिय मालूम देती है उसी वस्तु को ग्रहण करने की उस पुरुप की इच्छा होती है और जिसके ग्रहण करने की इच्छा होती है उसी वस्तु मे उसका मन हर समय लीन होता है । इस नियम के अनुसार जिस पुरुप को आत्म अनु-भव करना अच्छा लगता है उसको आत्मानुभव करते रहने की ही निरतर इच्छा रहती है और इसी कारण उसका मन आत्मा-नुभव मे ऐसा तन्मय रहता है कि स्वप्न मे भी आत्मानुभव से अलग होना नही चाहता । इसके विरुद्ध जिस पुरुष को विषयो से प्रीति है उसका मन निरतर विपयो मे ही फसा रहता है और इसी कारण यदि उसको शास्त्रज्ञान भी हो जाता है तो वह कार्यकारी नही होता ।

मन किस वस्तु से उदास नही होता ?

यत्रैवाऽऽहितधी पुस श्रद्धा तस्मान्निवर्त्तते ।
यस्यमान्निवर्त्तते श्रद्धा, कुतश्चित्तस्य तल्लय ॥९६॥

अन्वयार्थ—(पुस यत्र एव आहितधी तस्मात् श्रद्धा निवर्त्तते, यस्मात् श्रद्धा निवर्त्तते चित्तस्य तल्लय कुत)पुरुष की

जिस वस्तु मे अनुपकारक बुद्धि होती है अर्थात् जिस वस्तु को वह हितकारी नही समझता उस वस्तु मे उसकी रुचि नही होती और जिस वस्तु मे रुचि ही नही है उस वस्तु मे मन कैसे लग सकता है ? अर्थात् जैसे किसी पुरुष को यदि विषय-कषायो से बचना हो तो पहले उसे विषय-कषायो को दु खदायी समझना चाहिये, क्योकि जब उसकी बुद्धि मे विषय-कषाय दु खदायी मालूम देने लगेंगे तब स्वय ही उसकी रुचि उनसे हट जायगी और रुचि हटने से मन विषय-कषायो के सेवन करने से उदास हो जायगा ।

ध्येय को ध्याता से भिन्न मानकर भी ध्यान करना उत्तम ही है—

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा, परो भवति तादृशः ।
वर्त्तिर्दीप यथोपास्य, भिन्ना भवति तादृशी ॥९७॥

अन्वयार्थ--- (आत्मा भिन्नात्मान उपास्य तादृश पर भवति, यथा भिन्ना वर्ति दीप उपास्य तादृशी भवति) यह जीव अपने से भिन्न अर्हंत-सिद्ध स्वरूप परमात्मा की उपासना करके उन ही सरीखा अर्हंत-सिद्ध रूप परमात्मा हो जाता है । जैसे कि बत्ती दीपक से भिन्न होकर भी दीपक की उपासना से दीपक स्वरूप हो जाती है ।

भावार्थ—परमात्मा को भिन्न मानकर भी उसका ध्यान-मनन आदि करो तभी आत्मशुद्धि होती है । यहाँ ग्रन्थकार का आशय यह है कि जब तक 'जो परमात्मा है वही मैं हूँ ।' और जो मैं हूँ, वही परमात्मा है ।' इस प्रकार इकत्तीस वें श्लोकमे कहे अनुसार ध्याता-ध्यान-ध्येय को एक रूप मानकर ध्यान करने की योग्यता न होवे तब तक ध्याता-ध्येय की भेद-भावना से

ध्यान करने को भी हेय नहीं समझना चाहिए, किन्तु भेद-भावना से किये इस ध्यान के द्वारा भी आत्मा का बहुत हित होता है, यही समझना चाहिए।

ध्येय को ध्याता से अभिन्न मानकर ध्यान करने का
दृष्टान्त पूर्वक समर्थन—

उपास्यात्मानमेवात्मा, जायते परमोऽथवा।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव, जायतेऽग्निर्यथा तरु ॥९८॥

अन्वयार्थ—(अथवा आत्मा आत्मानं एव उपास्य परमः जायते, यथा तरुः आत्मा आत्मानं एव मथित्वा अग्निः जायते) अथवा आत्मा अपनी ही उपासना करके परमात्मा हो जाता है। जैसे बांस का वृक्ष बांस के साथ ही रगड़ खाने से अग्निरूप हो जाता है।

भावार्थ—यदि आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को ही ध्येय समझकर उसमें ही तन्मय होकर अभेदरूप से ध्यान करता है तो परमात्मपद प्राप्त कर लेता है। जैसे बांस का वृक्ष, बांस के साथ ही रगड़ खाने से अग्निरूप हो जाता है।

भेदाभेद का उपसंहार

इतीदं भावयेन्नित्यमवाचांगोचरं पदम्।
स्वत एव तदाप्नोति यतो नाऽऽवर्तते पुन ॥९९॥

अन्वयार्थ—(इति इदं नित्यं भावयेत्, स्वतः एव तत् अवाचां गोचरं पदं आप्नोति यतः पुनः न आवर्त्तते) अब आचार्य महाराज भेदाभेद का उपसंहार करते हुए लिखते हैं कि आत्म-स्वरूप को भिन्न रूप अथवा अभिन्नरूप मानकर निरन्तर भावना करनी चाहिए। जिससे कि वचन के अगोचर उस

परमात्मपद की प्राप्ति होवे जिससे कि फिर छूटना नही होता और ससार के दु ख भोगने नही पडते ।

आत्मा भूतचतुष्टय रो उत्पन्न नही है और ससार अवस्था मे सर्वथा शुद्ध नही है—

अयत्नसाध्य निर्वाण, चित्तत्त्व भूतज यदि ।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न, दु:ख योगिना क्वचित् ॥१००॥

अन्वयार्थ—(यदि चित्तत्त्व भूतज तर्हि निर्वाण अयत्न-साध्य, अन्यथा योगत तस्मात् योगिना क्वचित् दु ख न) यदि कदाचित् चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व की उत्पत्ति चार्वाक के मतानु-सार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भतो से ही मान ली जाय तो फिर मोक्षप्राप्ति के लिये प्रयत्न करने की कुछ आवश्यकता नही रहती, क्योकि जब भूत-चतुष्टय से उत्पन्न हुआ शरीर ही आत्मा मान लिया गया तो शरीर के नाश को ही मोक्ष मानना पडेगा और जव कि शरीर का नाश, आयु समाप्त होने पर स्वय ही हो जाता है तब फिर उसके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ सिद्ध होता है। इसलिये मोक्ष पुरुषार्थ को ध्यान मे रखते हुए चार्वाक की इस मन-गढन्त कल्पना को ठीक नही समझना चाहिये। दूसरे, यदि चैतन्यस्वरूप आत्मा को साख्यमत के अनुसार सर्वथा स्वभावसिद्ध शुद्धस्वरूप ही मान लिया जाय तो भी मोक्षप्राप्ति के लिये पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नही रहती, क्योकि आत्मा की अशुद्धरूप ससार अवस्था से शुद्धरूप मोक्ष अवस्था के प्राप्त करने के लिये ही ज्ञान-ध्यान, जप-तप आदि पुरुषार्थ व उद्योग की आवश्यकता होती है और यदि आत्मा को अनादि से ही सर्वथा शुद्ध स्वरूप मान

लिया जाय तो फिर मोक्ष प्राप्ति के लिये किया गया सब परिश्रम व्यर्थ पड जाता है, इसलिये यह साख्य मत का कथन भी युक्ति-सगत नही समझना चाहिये। हा, यदि जीवनमुक्त रूप अरहत अवस्था की अपेक्षा आत्मतत्त्व को शुद्धस्वरूप माना जाय तो यह बात बन सकती है और इस दशा मे मोक्ष भी अप्रयत्न सिद्ध बन सकता है। क्योकि सर्वज्ञ रूप अरहन्त केवली का आत्मा भी शुद्ध हो जाता है और मोक्षप्राप्ति के लिये अब वे कोई बुद्धिपूर्वक प्रयास भी नही करते, इसलिये उनकी मुक्ति भी अरहत अवस्था की अपेक्षा बिना प्रयत्न के कही जा सकती है, इसके अतिरिक्त अरहत अवस्था के नीचे के गुण स्थान वाले जो मुनि हैं उनको ध्यानादिक के करने से ही अरहत अवस्था पूर्वक मुक्ति प्राप्त होती है इसलिये मुक्ति के लिये प्रयत्न करना भी आवश्यक सिद्ध होता है। यहाँ कदाचित् यह शका हो सकती है कि प्रयत्नसिद्ध मुक्ति मानने मे तो प्रयत्न करते समय कष्ट भोगना पडेगा और जिस कार्य के करने मे प्रथम ही कष्ट भोगना पडे, उसमे पीछे से सुख क्या मिल सकता है ? इस प्रश्न का खुलासा उत्तर यही है कि मुक्तिप्राप्ति के लिये कठिन-से-कठिन तप व ध्यान आदि करते हुए भी महर्षि जन खेद नही मानते किन्तु अपने लक्ष्य की सिद्धि होते देखकर तप-ध्यान आदि करने मे आनन्द मानतेहैं, क्योकि वे शरीर को आत्मा से भिन्न समझते हैं इसलिए शरीर के कृश होने से उनको खेद नही होता।

शरीर के नाश होने पर आत्मा का नाश नही होता—

स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि, नाशोऽस्ति यथाऽऽत्मन ।
तथा जागरदृष्टेऽपि, विपर्यासाऽविशेषत ॥१०१॥

अन्वयार्थ—(स्वप्ने दृष्टे विनष्टे अपि यथा आत्मन नाश न अस्ति, तथा—जागरदृष्टे अपि, विपर्यासाऽविशेषत.) स्वप्न मे शरीर के नाश होने पर भी जैसे आत्मा का नाश नही होता, उसी प्रकार जागृत अवस्था मे भी शरीर के नाश होने पर आत्मा का नाश नही होता।

यहाँ यह शका हो सकती है कि स्वप्न मे तो भ्रम से शरीर के नाश के साथ आत्मा का नाश मालूम पडता है ? इसके उत्तर मे जागृत अवस्था मे भी शरीर के नाश के साथ आत्मा के नाश को भ्रमरूप ही समझना चाहिये, क्योकि जैसे झोपडी के जल जाने पर आकाश नही जलता वैसे ही शरीर के नाश होने पर आत्मा का नाश नही होता। हाँ ! स्वप्न अवस्था मे शरीर का भी नाश भ्रमरूप है। जागृत अवस्था मे मरते समय शरीर के परमाणु बिखरकर अवश्य अलग-अलग हो जाते हैं अर्थात् उनकी शरीररूप स्कन्ध पर्याय वास्तव मे नष्ट हो जाती है। किन्तु आत्मा का अभाव दोनो अवस्थाओ मे नही होता। आत्मा की सिद्धि अष्ट-सहस्री, प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि ग्रन्थो मे विस्तार पूर्वक हैं। यहाँ खडन-मडन के विषय पर दृष्टि नही दी गई है।

कायक्लेशादि करके आत्मा को शरीर से भिन्न जानने का अभ्यास करना चाहिये—

अदु.खभावित ज्ञान, क्षीयते दुःख-सन्निधौ।
तस्माद् यथाबल दु खैरात्मान भावयेन्मुनि ॥१०२॥

अन्वयार्थ—(अदु खभावित ज्ञान दु खसन्निधौ क्षीयते, तस्मात् यथाबल आत्मान दु खै भावयेत्) सुकुमारता पूर्वक, बिना कायक्लेश आदि तप किये, जो शरीर व आत्मा का भेद-

ज्ञान हो जाता है वह उपसर्ग, परिषह आदि कष्टों के आने पर नष्ट भी हो जाता है। इसलिये मुनि-जनों को यथाशक्ति काय-क्लेश आदि तप करके ही शरीर से भिन्न आत्मस्वरूप की भावना करनी चाहिये।

भावार्थ—जिसको अनेक प्रकार के भयकर कष्टों के आने पर भी शरीर का मोह उत्पन्न न होवे, वही सच्चा भेदज्ञानी समझा जा सकता है और यह बात तभी हो सकती है जब शरीर को स्वयं अनेक प्रकार के कष्ट देकर निराकुल रहने का अभ्यास किया जावे।

आत्मा के चलने पर शरीर क्यों चलता है?

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छा-द्वेष-प्रवर्तितात्।
वायोः शरीरयन्त्राणि, वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु ॥१०३॥

अन्वयार्थ—(इच्छाद्वेषप्रवर्तितात् आत्मनः प्रयत्नात् वायु चलति वायोः शरीरयंत्राणि स्वेषु कर्मसु वर्तन्ते) राग-द्वेष से उत्पन्न हुए आत्मा के प्रयत्न से शरीर के भीतर वायु चलती है और वायु के चलने से शरीर व इन्द्रियरूपी यन्त्र अपना-अपना कार्य करने लगते हैं।

भावार्थ—यहाँ पर किसी की यह शंका है कि जब शरीर व आत्मा बिलकुल भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं तब आत्मा की इच्छा के आधीन शरीर का गमन क्यों होता है? अथवा जिधर को आत्मा जाता है, जीवित अवस्था में उधर को ही शरीर क्यों जाता है? इसी शंका के उत्तर में यह श्लोक लिखा गया है कि पहले आत्मा में राग-द्वेष के वश प्रयत्न पैदा होता है, वह प्रयत्न शरीर के भीतर की वायु को इच्छित स्थान की तरफ चलाता है और

वायु रेलगाडी की तरह शरीर को उधर ही खीचकर ले जाती है।

शारीरिक क्रियाओ मे बहिरात्मा सुख मानता है—

तान्यात्मनि समारोप्य, साक्षाण्यास्ते सुख जड ।
त्यक्त्वाऽऽरोप पुनर्विद्वान्, प्राप्नोति परमं पदम् ॥१०४॥

अन्वयार्थ—(जड. साक्षाणि तानि आत्मनि समारोप्य सुख आस्ते, विद्वान् पुन' आरोप त्यक्त्वा परम पदम् प्राप्नोति) मूर्ख पुरुष इन्द्रियो सहित उन औदारिकादि शरीरो को आत्मा मानकर सुख मानता है और ज्ञानी पुरुष शरीर व इन्द्रियो में आत्मा का सकल्प त्यागकर परम पद को पाता है। अर्थात् मूढ बहिरात्मा, शरीर व इन्द्रियो की अनेक क्रियाओ को आत्मा की ही क्रिया जानकर सुख मानता है, किन्तु ज्ञानी पुरुष ऐसा नही मानते।

ग्रथ का उपसहार

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहधिय च,
ससार-दु.ख-जननीं जननाद्वि मुक्त. ।
ज्योतिर्मय सुखमुपैति परात्म-निष्ठ—
स्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितन्त्रम् ॥१०५॥

अन्वयार्थ—(तनमार्ग एतत् समाधितत्र अधिगम्य परात्मनिष्ठा ससार दु ख जननी परत्र पर बुद्धि अहधिय च मुक्त्वा जननाद्विमुक्त ज्योतिर्मय उपैति) ग्रन्थकर्त्ता श्री पूज्यपाद स्वामी ग्रन्थ का उपसहार करते हुए कहते है कि परमानद मय शुद्ध आत्मा की प्राप्ति के उपायभूत इस शातिमय आत्मस्वरूप के प्रतिपादक समाधितन्त्र शास्त्र को जानकर परमात्मा की

भावना मे स्थित पुरुष ससार के दु खो को उत्पन्न करने वाली परपदार्थों मे परमात्मबुद्धि व आत्मबुद्धि को त्यागकर ससार से मुक्त होता है और ज्ञानानन्दमय सुखनिधि स्वरूप परमात्मपद को प्राप्त होता है ।।इति शुभम।।

पण्डितप्रवर श्रीभागचन्द्रजी विरचित

महावीराष्टक

[नित्य-प्रार्थना]

: १ :

यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावाश्चिदचित
सम भान्ति ध्रौव्य-व्यय-जनि-लसन्तोऽन्तरहिताः ।
जगत्साक्षी मार्ग-प्रकटन-परो भानुरिव यो
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु न. ।।

: २ :

अताम्र यच्चक्षु कमल-युगल स्पन्द-रहित
जनान् कोपाऽपाय प्रकटयति वाऽऽभ्यन्तरमपि ।
स्फुट मूर्तिर्यस्य प्रशमितमयी वाऽतिविमला
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु नः ।।

३ .

नमन्नाकेन्द्राली-मुकुट-मणि-भाजाल-जटिल
लसत्पादाम्भोज-द्वयमिह यदीय तनुभृताम् ।।
भवज्वाला-शान्त्यै प्रभवति जल वा स्मृतमपि
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु नः ।।

४

यदर्च्चाभावेन प्रमुदित-मना दुर्दु र य इह
क्षणादासीत्स्वर्गी गुण-गण-समृद्ध सुख-निधि ।
लभन्ते सद्भक्ता शिव-सुख-समाज किमु तदा
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु न ॥

५

कनत्स्वर्णा-भासोऽप्यपगत-तनुर्ज्ञान-निवहो
विचित्राऽऽत्माऽप्येको नृपतिवर-सिद्धार्थ-तनय ।
अजन्माऽपि श्रीमान् विगत-भव-रागोद्भुतगति-
र्महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु न ॥

६

यदीया वाग्गङ्गा विविध-नय-कल्लोल-विमला
वृहज्ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनता या स्नपयति ।
इदानीमप्येषा बुधजन-मरालै परिचिता
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु न ॥

७

अनिर्वारोद्रेकस्त्रिभुवन-जयी काम-सुभट
कुमाराऽवस्थायामपि निजबलाद्येन विजित ।
स्फुरन्नित्याऽऽनन्द-प्रशम-पद-राज्याय स जिन
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु न ॥

८

महा-मोहाऽऽतङ्क-प्रशमन-पराऽऽकस्मिक-भिषड्
निरापेक्षो बन्धुर्विदित-महिमा मङ्गलकर ।

४

यदर्च्चाभावेन प्रमुदित-मना दुर्दुर य इह
क्षणादासीत्स्वर्गी गुण-गण-समृद्ध सुख-निधि ।
लभन्ते सद्भक्ता शिव-सुख-समाज किमु तदा
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु न ॥

५

कनत्स्वर्णा-भासोऽप्यपगत-तनुर्ज्ञान-निवहो
विचित्राऽऽत्माऽप्येको नृपतिवर-सिद्धार्थ-तनय ।
अजन्माऽपि श्रीमान् विगत-भव-रागोद्भुतगति-
र्महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु न ॥

६

यदीया वाग्गङ्गा विविध-नय-कल्लोल-विमला
वृहज्ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनता या स्नपयति ।
इदानीमप्येषा बुधजन-मरालै परिचिता
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु न ॥

७

अनिर्वारोद्रेकस्त्रिभुवन-जयी काम-सुभट
कुमाराऽवस्थायामपि निजवलाद्येन विजित ।
स्फुरन्नित्याऽनन्द-प्रशम-पद-राज्याय स जिन
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु न ॥

८

महा-मोहाऽऽतङ्क-प्रशमन-पराऽऽकस्मिक-भिषड्
निरापेक्षो वन्धुर्विदित-महिमा मङ्गलकर ।

अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ
ज्यौ शुक नभ-चाल विसरि नलिनी लटकायौ ।।४।।

२

अब हम अमर भये न मरेंगे।
तन-कारण मिथ्यात्व दियो तज, क्यों करि देह धरेंगे ।।
उपजै-मरै कालतै प्रानी, तातै काल हरेंगे।
राग-द्वेष जग-बन्ध करत है, इनको नाश करेंगे ।।
अब हम अमर भये न मरेंगे।
देह विनाशी, मैं अविनाशी, भेदज्ञान पकरेंगे।
नाशी जासी, हम थिरवासी, चोखे हो निखरेंगे ।।
अब हम अमर भये न मरेंगे ।।
मरे अनन्त वार विन समझै, अब सब दुख विसरेंगे।
'द्यानत' निपट-निकट दो अक्षर, विनु सुमरै सुमरेंगे ।।
अब हम अमर भये न मरेंगे ।।

वैराग्य-भावना

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार,
मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार
दलबलदेई देवता, मात पिता परिवार,
मरती विरिया जीव को, कोई न राखनहार
दाम विना निर्धन दुखी, तृष्णावश धनवान,
कही न सुख ससार मे, सब जग देख्यो छान
आप अकेलो अवतरै, मरै अकेलो होय,
यू कबहू इस जीव को, साथी सगा न कोय
जहा देह अपनी नही, वहा न अपनो कोय,
पर सपति पर प्रगट ये, पर है परिजन लोय.
दिपै चामचादरमढी, हाड पीजरा देह,
भीतर या सम जगत् मैं, अवर नही घिनगेह
मोहनीद के जोर, जगवासी घूमै सदा,
कर्मचोर चहु ओर, सरबस लूटै सुध नही
सतगुरु देय जगाय, मोहनीद जबै उपशमे,
तब कछु बनहि उपाय, कर्मचोर आवत रुकै
ज्ञानदीपतपतेल घर, धरै शोधै भ्रम छोर,

यावि‍ध विन निकसै नही, पैठे पूरव चोर
पच महाव्रत सचरण, समिति पच परकार,
प्रवल पच इन्द्री-विजय, धार निर्जरा सार
चौदह राजु उतग नभ, लोक पुरुष सठान,
तामै जीव अनादितै, भरमत है विन ज्ञान
धनकनकचन राजसुख, सबहि सुलभकर जान,
दुर्लभ है ससार मे, एक जथारथ ज्ञान
जाचे सुरतरु देय सुख, चितत चितारैन,
विन जाचे विन चितये, धर्म सकल सुख दैन

• ०